मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

त्रैमासिक
जनवरी-अप्रैल 2020
(संयुक्तांक)
50 रुपये

सीएए-एनआरसी-एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन का रूप देना होगा! ● दिल्ली में आम आदमी पार्टी की जीत : मजदूर वर्गीय नज़रिया ● दिल्ली में राज्य-प्रायोजित फ़ासीवादी हमला, हिंसा और दंगे : भारतीय साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का एक और 'प्रयोग' ● कोरोना वायरस : नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर की महामारी ● यस बैंक - अर्थव्यवस्था के गहराते संकट की एक और अभिव्यक्ति ● 'आप' चुप नहीं है, 'आप' की राजनीति बोल रही है ● हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वत:स्फूर्ततावाद से आगे, बहुत आगे, जाने की ज़रूरत क्यों है? ● असम में आप्रवासन : क्या यह वाक़ई एक विकराल समस्या है?

विशेष सामग्री

राष्ट्रीय प्रश्न व भाषा प्रश्न पर एक अहम बहस के चुनिन्दा दस्तावेज़

राष्ट्रीय दमन क्या है? भाषा के प्रश्न से इसका क्या रिश्ता है? ● राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के विरुद्ध क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति ● भाषा और राष्ट्रीयता के प्रश्न पर मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ, केपकाया के विचार ● भाषा और बोली का क्या सम्बन्ध है? ● लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद के ख़तरे ● भाषाई अस्मितावादियों से न्गूगी वा थ्योंगो को बचाओ!

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के शहादत दिवस (23 मार्च) के अवसर पर

हमें तुम्हारा नाम लेना है
एक बार फिर
गुमनाम मंसूबों की शिनाख़्त करते हुए
कुछ गुमशुदा साहसिक योजनाओं के
पते ढूँढ़ते हुए
जहाँ रोटियों पर माँओं के दूध से
अदृश्य अक्षरों में लिखे
पत्र भेजे जाने वाले हैं, खेतों-कारख़ानों में
दिहाड़ी पर खटने वाले पच्चीस करोड़ मज़दूरों,
बीस करोड़ युवा बेकारों,
उजड़े बेघरों और गिरफ़्तार
आधे आसमान की ओर से।
उन्हें एक दर्पण, नीले पानी की एक स्वच्छ झील,
एक आग लगा जंगल और धरती के बेचैन गर्भ से
उफनने को आतुर लावे की पुकार चाहिए।
गन्तव्य तक पहुँचकर
अदृश्य अक्षर चमक उठेंगे लाल टहकदार
और तय है कि
लोग एक बार फिर इन्सानियत की रूह में
हरकत पैदा करने के बारे में सोचने लगेंगे।*

तुम्हारा नाम हमें लेना है
उस समय के विरुद्ध
जब सजीव चीज़ों में निष्प्राणता भरी जा रही है
एक उज्ज्वल सुनसान में
जहाँ रहते हैं शिल्पी और सर्जक बस्तियाँ बसाकर,
और कभी दिन थे, जब हालाँकि अँधेरा था,
पर अनगिन कारीगर हाथों ने
मिट्टी, राख, रक्त, पानी, धूप, और
कामनाओं-संकल्पों-स्मृतियों-सपनों को
गूँथकर गढ़े थे लोग
विचारों ने बनाया था जिन्हें सजीव-गतिमान।
तुम्हारा नाम हमें लेना है
कि अधबने रास्ते कभी खोते नहीं,
हरदम कचोटते रहते हैं वे दिलों में
जागते रहते हैं
और पीढ़ियों तक धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा के बाद
वे फिर आगे चल पड़ते हैं
और जब भी
पहुँचते हैं अपनी चिरवांछित मंज़िल तक,
तो वहाँ से
एक नयी राह आगे चलने लगती है।

– शशि प्रकाश
की कविता 'नयी सदी में भगतसिंह की स्मृति' के अंश

* भगतसिंह के उस प्रसिद्ध कथन का सन्दर्भ कि "जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है" तो इस परिस्थिति को बदलने के लिए ज़रूरी होता है कि "क्रान्ति की स्पिरिट ताज़ा की जाये, ताकि इन्सानियत की रूह में हरकत पैदा हो।"

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच	2
अपनी ओर से	
सीएए-एनआरसी-एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन का रूप देना होगा!	3
सामयिकी	
दिल्ली में राज्य-प्रायोजित फ़ासीवादी हमला, हिंसा और दंगे : भारतीय साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का एक और 'प्रयोग'	5
कोरोना वायरस : नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर की महामारी	10
दिल्ली विधानसभा चुनाव 2020 में फिर से आम आदमी पार्टी की जीत के मायने : एक मज़दूर वर्गीय नज़रिया	12
'आप' चुप नहीं है, 'आप' की राजनीति बोल रही है	26
असम में आप्रवासन : क्या यह वाक़ई एक विकराल समस्या है?	80
एनआरसी के ड्रैगन को समझिए!	84
विमर्श	
हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वतःस्फूर्ततावाद से आगे, बहुत आगे, जाने की ज़रूरत क्यों है?	20
विशेष सामग्री	
राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर एक अहम बहस के चुनिन्दा दस्तावेज़	33
अर्थजगत	
यस बैंक का डूबना – भारतीय अर्थव्यवस्था के गहराते संकट...	30
फ़ासीवादी मोदी राज में विकराल होती बेरोज़गारी	87
समाज	
नागौर, राजस्थान में घटी दलित युवकों को पीटकर गुप्तांगों में पेट्रोल डाल देने की भयावह घटना!	89
सीएए और एनआरसी के मुद्दे पर जगदीश उर्फ़ जग्गी वासुदेव...	91
कला-साहित्य	
सब याद रखा जायेगा (नज़्म)	29
'मिया कविता' – प्रवासियों की प्रतिरोध कविता	83

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्षः 13 अंकः1-2

जनवरी-अप्रैल, 2020 (संयुक्तांक)

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **25 रूपये**

वार्षिक सदस्यता: **160 रूपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रूपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रूपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रूपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 09999750940

ईमेलः ahwan.editor@gmail.com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

नियमित अन्तराल पर आये आह्वान

मैं 'आह्वान' का नियमित पाठक हूँ। आज के अँधेरे समय में 'आह्वान' लोगों तक भगतसिंह के सन्देश को लेकर जाने का सराहनीय कार्य कर रहा है। आज जब फ़ासीवादी निज़ाम जनता पर क़हर बरपा कर रहा है तो ऐसे में मुख्य धारा की मीडिया भी फ़ासीवादी गिरोह का ही एक हिस्सा बनकर समाज में ज़हर फैला रही है। पूँजीपति ही इन्हें चला रहे हैं, इस कारण यह मीडिया उनका सच नहीं दिखा सकता। आह्वान में कला, साहित्य, फ़िल्मों के विश्लेषण के माध्यम से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रबल प्रचार-प्रसार हो रहा है। पिछले लेख में प्रधानमंत्री के नाम आयी चिट्ठी और नवाज़ुद्दीन पर आया लेख उल्लेखनीय था। सम्पादक मण्डल से एक अपील और भी है कि आह्वान को नियमित अन्तराल पर प्रकाशित किया जाये ताकि छात्रों और नौजवानों का सही दिशा में आह्वान किया जा सके।

– अरुण, पटना, बिहार

भेड़ियों के राज के विरुद्ध आवाज़ उठाओ

आज समर्पित होना ही होगा,
मानवता की रक्षा के प्रति,
इन भूखे भेड़ियों के विरुद्ध।
आने वाला है भेड़ियों का राज,
इस बार जब ये भेड़िये आयेंगे,
तो इनकी ज़ंजीरे खुली होंगी।
रक्त से सने इनके ख़ूनी पंजे,
अब अधिक हमलावर होते जायेंगे।
आवाज़ उठाना अब और अधिक गुनाह हो जायेगा।
सत्य न्याय महज़,
एक खोखले शब्द बनकर रह जायेंगे।
सत्यापित किया जायेगा
भेड़ियों का राज ही अन्तिम राज है।
चीख़ें सन्नाटे में ढलती जायेंगी, इसके साथ ही प्रारम्भ होगी
विनाश की विजययात्रा,
विद्रूपता का नग्न रूप प्रकट होता जायेगा।

आज जो तबाही यह भाजपा-आरएसएस मचा रही है, उसमें आह्वान जैसी प्रगतिशील पत्रिका की भूमिका और बढ़ जाती है। 'आह्वान' का नियमित पाठक होने से समाज में चल रही घटनाओं को एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझ पा रहा हूँ। फ़ासीवाद के ऊपर विशेषांक आज के समय में और अधिक निकाले जाने की ज़रूरत है। जनता के दम पर क्रान्तिकारी वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने का काम आह्वान के द्वारा हो रहा है। पर साथ ही साथ इसकी नियमितता भी बढ़ाने की अपील है।

– भारत, दिल्ली

कितना अच्छा होता कि आप हमारी कमज़ोरी नहीं, ताक़त बन जाने की बात करते।

कितना अच्छा होता कि आप हमारी कमज़ोरी नहीं, ताक़त बन जाने की बात करते।

दूर खड़े होकर घने अँधेरे की नहीं, एक नयी सुबह होने की बात करते।

ख़ुद ना आये तो कम से कम आनेवालों से, नाउम्मीदी की ना बात करते।

हुकूमत की मंशा जान और इसे होनी समझकर, घरों में दुबक जाने की ना बात करते।

जो इस दफ़ा नज़र चुराने की नहीं, आँखों से आँख मिलाने की बात करते।

जो घरों में बेचैनी की नींद नहीं, हमारे साथ उम्मीदी की एक रात गुज़ारने की बात करते।

जो इस दफ़ा दफ़्तरों में भटकने के बजाये, काग़ज़ ना दिखाने की बात करते।

अपनी देशभक्ति को काग़ज़ों पर ढूँढ़ने के बजाये, दिलों में टटोलने की बात करते।

जो औरतों को घरों की ज़ीनत के साथ-साथ, इस देश की रौनक कहने की बात करते।

जो इस दफ़ा उनको घरों में क़ैद करने के बजाये, उनके सड़कों पर आ जाने की बात करते।

और जो रहनुमा बनकर आप आते हो हमारे पास, तो भाषणों के बाद हमारे साथ बैठ जाने की बात करते।

अपना वोट बैंक बनाने के बजाये, आप अपने-अपने क्षेत्रों में ऐसे आन्दोलनों को बढ़ाने की बात करते।

जो इस वक़्त आप हिन्दू-मुसलमान नहीं, एक हिन्दुस्तानी होने की बात करते।

जो इस आन्दोलन को कार्यक्रम की तरह देखकर चले जाने के बजाये, इसकी अहमियत समझने की बात करते।

जो इस आन्दोलन में ख़ामियाँ निकालने के बजाये, आप हम से जुड़कर इन ख़ामियों को मिटाने की बात करते।

जो इस दफ़ा सारी उंगलियों के खुलकर अलग हो जाने की नहीं, उनके बँधकर मुट्ठी बन जाने की बात करते।

अगर आप ख़ामोश हैं तो कम से कम, बढ़ती महँगाई गिरती जीड़ीपी की ही बात करते।

कितना अच्छा होता कि आप हमारी कमज़ोरी नहीं हमारी ताक़त बन जाने की बात करते।

– सादिक अनवर, पटना

अपनी ओर से

सीएए-एनआरसी-एनपीआर विरोधी जनान्दोलन को फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन का रूप देना होगा!

एनपीआर के ख़िलाफ़ देशव्यापी जनबहिष्कार है अगला क़दम!

मोदी-शाह की फ़ासीवादी भाजपा सरकार के विरुद्ध पहला बड़ा जनान्दोलन पूरे देश में पिछले कुछ महीनों से जारी है। नागरिकता संशोधन क़ानून के ख़िलाफ़ शाहीन बाग़ में शुरू हुए विरोध प्रदर्शन के साथ इस आन्दोलन की शुरुआत हुई थी। इसके बाद शाहीन बाग़ की तर्ज़ पर पूरे देश में सैंकड़ों जगह इस साम्प्रदायिक क़ानून के ख़िलाफ़ विरोध व धरना प्रदर्शन शुरू हो गये। उनमें से कई सरकार द्वारा दमन के लाख प्रयासों के बावजूद अभी तक जारी हैं। दिल्ली में इन प्रदर्शनों पर हमले और दंगे करवाकर मोदी-शाह सरकार ने कुछ प्रदर्शनों को बन्द करवाने में कामयाबी पायी। लेकिन उनके लिए दिक़्क़त की बात यह है कि अब इस बात से बहुत-कुछ तय नहीं होता कि कितने प्रदर्शन जारी हैं या जारी रहते हैं। इन प्रदर्शनों ने वह मूल कार्यभार एक हद तक पूरा कर दिया है, जो इन्हें करना था। इनकी वजह से देश में सीएए और एनआरसी कम-से-कम एक मुद्दा बन गया। इसके बाद निश्चित तौर पर संघ परिवार ने झूठे प्रचार के ज़रिये हिन्दू जनसमुदायों के व्यापक हिस्सों को इस बात पर सहमत करने का प्रयास किया है कि सीएए और एनआरसी का निशाना वास्तव में मुसलमान हैं। लेकिन इसके बावजूद हिन्दू जनसमुदायों का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा है जो कि असम में एनआरसी के अनुभवों के बाद एनआरसी पर संशयग्रस्त है और कई इसका मुखर विरोध भी कर रहे हैं। निश्चित तौर पर, जहाँ भी सीएए-एनआरसी विरोधी प्रदर्शन जारी हैं, वहाँ ज़रूरी जारी रहने चाहिए। लेकिन अब आन्दोलन को इन विरोध-प्रदर्शनों को जारी रखते हुए इनसे आगे भी जाना होगा। वजह यह है कि घर-घर तक पहुँचने के मामले में संघ परिवार अभी भी जनवादी और प्रगतिशील शक्तियों और संगठनों से आगे है।

सबसे अहम बात यह है कि सीएए-एनआरसी-एनपीआर के विरुद्ध जारी संघर्ष को केवल इन्हीं मुद्दों तक सीमित रखना एक ग़लती होगी और यह सिर्फ़ प्रतिक्रियात्मक स्वतःस्फूर्तता की श्रेणी में आयेगा। एक पल को यह फ़र्ज़ करें कि भाजपा की फ़ासीवादी मोदी-शाह सरकार इन क़ानूनों व क़दमों को वापस लेने, टालने या ठण्डे बस्ते में डालने को मजबूर होती है (यह सम्भव है क्योंकि स्वयं भारतीय पूँजीपति वर्ग के बीच इस प्रश्न पर एक राय नहीं है, जैसा कि कई राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा एनपीआर को अपने राज्य में लागू करने से इन्कार करने से साफ़ प्रकट होता है), तो क्या अपने नापाक मंसूबों को पूरा करने के लिए वह कोई नया क़दम नहीं उठायेगी? ज़ाहिर है, ऐसा नहीं होगा। अधिक सम्भावना यही है, कि मोदी-शाह सरकार अपने फ़ासीवादी मंसूबों को पूरा करने के लिए अल्पसंख्यकों को निशाना बनाने के लिए कोई नयी साज़िश लेकर सामने आयेगी। इसलिए सीएए-एनआरसी-एनपीआर की मुख़ालफ़त के आन्दोलन को एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन में तब्दील करना एक अनिवार्यता है।

मौजूदा जनान्दोलन को एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन में तब्दील करने के लिए यह ज़रूरी है कि सीएए-एनआरसी-एनपीआर के तात्कालिक रूप से प्रधान मुद्दे के साथ आज जनता को प्रभावित करने वाले सभी बुनियादी मुद्दों को उठाया जाये और उनको लेकर जनता के व्यापक जनसमुदायों को जागृत, गोलबन्द और संगठित किया जाये। इस आन्दोलन में बेरोज़गारी का मुद्दा (जो कि आज अभूतपूर्व सीमाओं तक पहुँच चुकी है), आर्थिक मन्दी से देश की तबाही, महँगाई, बेघरी, व्यावसायीकरण, अभूतपूर्व गति से निजीकरण और मुनाफ़े में चल रही सरकारी कम्पनियों व उपक्रमों को पूँजीपतियों को औने-पौने दामों पर बेचना और साथ ही कोरोना वायरस की रोकथाम में सरकार की पूर्ण अरुचि और लापरवाही को भी मुद्दा बनाया जाना चाहिए। ये ही वे मुद्दे हैं जिन पर अपनी नाकामी छिपाने के लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार देश में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण, दंगों और नरसंहारों की साज़िशाना राजनीति कर रही है।

आन्दोलन को यह व्यापक राजनीतिक स्वरूप देने के लिए विशेष तौर पर मज़दूर वर्ग, निम्न मध्यवर्ग, छात्रों-युवाओं, और स्त्रियों के बीच ऐसे व्यापक जनअभियान, सघन जनसम्पर्क अभियान, पदयात्राएँ, साईकिल यात्राएँ, बाइक यात्राएँ निकालने की आवश्यकता है, जो उन्हें इन मुद्दों पर जागृत, गोलबन्द और संगठित करने का काम करें। बेहद सरल और लोकप्रिय भाषा में पर्चों, पुस्तिकाओं, नाटकों, गीतों, डॉक्युमेण्ट्री फ़िल्मों को छापना-बनाना होगा जो कि इन सभी मुद्दों की गम्भीरता से जनता को अवगत करायें और मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता और समूची पूँजीवादी व्यवस्था व पूँजीपति वर्ग की सच्चाई से उनका परिचय करायें। केवल इसी के ज़रिये संघ परिवार की प्रचार मशीनरी को शिकस्त दी जा सकती है जो दिनों-रात झूठे फ़ासीवादी प्रचार में

लगी रहती है।

प्रचार के इन रूपों के साथ-साथ सोशल मीडिया, विशेष तौर पर, व्हॉट्सऐप और फ़ेसबुक के ज़रिये भी प्रगतिशील व जनवादी शक्तियों को सच्चाई को जनता के बीच लेकर जाना चाहिए। इसके लिए छोटे-छोटे वीडियो, एनिमेशन, पर्चे, लेख आदि को तैयार किया जाना चाहिए, जिन्हें सोशल मीडिया के माध्यम से जनता के बीच पहुँचाया जा सके। अब तक भी जनवादी और प्रगतिशील शक्तियाँ यह काम करती रही हैं, लेकिन यह क़तई नाकाफ़ी पैमाने पर हुआ है और इसे कहीं ज़्यादा सघन और व्यापक पैमाने पर करने की दरकार है।

इस पूरी प्रक्रिया में तात्कालिक कार्यभार है जनता को 1 अप्रैल से शुरू हो रही एनपीआर की प्रक्रिया के बहिष्कार के लिए तैयार करना। अब काफ़ी लोग इस बात को समझ रहे हैं कि एनपीआर ही एनआरसी का पहला क़दम है और एनपीआर के आधार पर ही एनआरसी तैयार होगी। यह भी कई लोग समझ चुके हैं कि नागरिकता पर 'डी' यानी संदेहास्पद का चिह्न एनपीआर फ़ॉर्म में नहीं लगेगा, बल्कि एनपीआर डेटा के आधार पर तैयार होने वाले एनआरसी में लगाया जायेगा। और सरकार ने अदालत में अपने एफ़िडेविट में फिर से स्पष्ट शब्दों में कहा है कि एनआरसी किया जायेगा क्योंकि यह "देश के लिए ज़रूरी है"। इससे स्पष्ट है कि यदि सरकार एनपीआर की प्रक्रिया चलाने में कामयाब होती है, तो वह एनआरसी भी निश्चित तौर पर करेगी। और एनआरसी का नतीजा पूरे देश में क्या होगा, इसकी एक झांकी असम में एनआरसी से सामने आ चुकी है। 19 लाख लोग जो एनआरसी से बाहर हुए, उसमें से क़रीब 13.5 लाख हिन्दू हैं और अन्य मुसलमान। इस सच्चाई के ज़रिये आम हिन्दू आबादी को भी यह समझाया जाना चाहिए, एनआरसी का विरोध न सिर्फ़ जनवादी और सेक्युलर सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए, बल्कि यह भी समझने की ज़रूरत है कि यह सिर्फ़ मुसलमानों के ख़िलाफ़ नहीं है, बल्कि आम जनता के ख़िलाफ़ है, चाहे उसका मज़हब कुछ भी हो। असम की मिसाल से यह तथ्य सन्देह से परे है। इसलिए इन सच्चाइयों को जनता के सामने लाकर उन्हें एनपीआर के बहिष्कार के लिए तैयार किया जाना चाहिए, गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले में एनपीआर बहिष्कार समितियाँ बनायीं जानी चाहिए। ये ही जनसमितियाँ आगे सभी जन मसलों पर जनता के ग्रासरूट संगठन का स्वरूप ले सकती हैं, चाहे वह बेरोज़गारी व महँगाई का मसला हो या समान व निशुल्क शिक्षा व चिकित्सा का मसला। ये कमेटियाँ जनता के वे निकाय बन सकती हैं, जहाँ जनता क्रान्तिकारी नेतृत्व में राजनीतिक निर्णय लेना सीखती है। शुरुआत इस क़दम से होनी चाहिए कि इन कमेटियों के ज़रिये एनपीआर की प्रक्रिया को नाकाम कर दिया जाये, जिसके आधार पर मोदी सरकार एनआरसी तैयार करने और देश की व्यापक मेहनतकश जनता को सालों-साल क़तारों में खड़ा करने, एक आबादी को डिटेंशन सेण्टरों में पहुँचा कर उनसे ग़ुलाम श्रम निचोड़ने, और उसे मौत, यातना और बीमारियों के गर्त में धकेलने का षड्यंत्र रच रही है।

यह समझना बहुत ज़रूरी है कि एक अच्छी-ख़ासी आम हिन्दू आबादी भी संघ परिवार के प्रचार के प्रभाव में है। उसे सीएए-एनआरसी-एनपीआर की सच्चाई नहीं पता है। वह भी बेरोज़गारी, महँगाई और पहुँच से दूर होती शिक्षा, चिकित्सा और आवास से परेशान है, नाराज़ है, असन्तुष्ट है। और यही नाराज़गी उसमें एक ग़ुस्से और प्रतिक्रिया को जन्म दे रही है। सही राजनीतिक शिक्षा और चेतना के साथ यह नाराज़गी सही शत्रु को पहचान सकती है और उसे निशाना बना सकती है, यानी कि मौजूदा फ़ासीवादी सत्ता और समूची पूँजीवादी व्यवस्था को। लेकिन राजनीतिक चेतना और शिक्षा की कमी के कारण फ़ासीवादी शक्तियाँ उनकी अन्धी प्रतिक्रिया को एक नकली दुश्मन, यानी मुसलमान और दलित, देने में कामयाब हो जाती हैं। आज संघ परिवार और मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता इसी प्रयास में लगी है। यह नहीं कह सकते कि वे कामयाब हो रहे हैं, लेकिन वे लगे हुए हैं और कामयाब हो भी सकते हैं, यदि क्रान्तिकारी शक्तियों ने एक सही योजना और कार्यक्रम के तहत काम नहीं किया। मुसलमान आबादी तो अपने दमन और उत्पीड़न के कई दशकों से स्वभावतः इस बात को समझ रही है कि सीएए और एनआरसी में उसे निशाना बनाया जायेगा, लेकिन व्यापक मेहनतकश और आम मध्यवर्गीय हिन्दू आबादी को भी यह समझाना होगा कि सीएए-एनआरसी की गाज उन पर भी गिरने वाली है, जैसा कि असम में हुआ है। जब तक ऐसा नहीं होता, फ़ासीवादी शक्तियों के मंसूबों के कामयाब होने का ख़तरा बना रहेगा।

इसीलिए जहाँ कहीं भी शाहीन बाग़ जारी है, उसे अधिकतम सम्भव समय तक जारी रखा जाना चाहिए, बेहतर हो तब तक जब तक कि सीएए और एनआरसी को वापस लेने के लिए हम मौजूदा फ़ासीवादी निज़ाम को मजबूर नहीं कर देते हैं, लेकिन अब इतना ही काफ़ी नहीं है। आन्दोलन एक नये चरण में है, जिसमें कि अब इन प्रदर्शनों को भरसक जारी रखते हुए, सभी धर्मों के और विशेष तौर पर हिन्दुओं की व्यापक मेहनतकश और आम मध्यवर्गीय आबादी तक फ़ासीवादी मोदी सरकार की असलियत को उजागर किया जाये, सीएए-एनआरसी की साज़िश से उन्हें अवगत कराया जाये और साथ ही मौजूदा आर्थिक संकट, बेरोज़गारी, महँगाई, निजीकरण, शिक्षा, चिकित्सा व आवास के बाज़ारीकरण के ख़िलाफ़ उसे संगठित किया जाये और राजनीतिक शिक्षा और संघर्ष की प्रक्रिया में उसे समझाया जाये कि उसके दुश्मन मुसलमान, दलित, या ईसाई नहीं हैं, बल्कि सभी धर्मों और जातियों की आम मेहनतकश आबादी की दुश्मन यह फ़ासीवादी सत्ता और पूँजीवादी व्यवस्था है। इसी के लिए आन्दोलन के इस नये चरण में हमें इस सच्चाई को लेकर घर-घर तक पहुँचना होगा। इसी पर हमारे आन्दोलन का भविष्य निर्भर करता है।

●

दिल्ली में राज्य-प्रायोजित फ़ासीवादी हमला, हिंसा और दंगे : भारतीय साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का एक और 'प्रयोग'

● शिवानी

दिल्ली के उत्तर पूर्वी हिस्सों में 23 फ़रवरी से शुरू हुए राज्य-प्रायोजित फ़ासीवादी हमलों और उसके फलस्वरूप भड़काये गये साम्प्रदायिक दंगों ने संघ परिवार और मोदी सरकार की लम्बे समय से चल रही तैयारी को सबके सामने ला दिया। जो कुछ भी घटित हुआ वह स्वतःस्फूर्त नहीं था। यह पूरी तरह से नियोजित-नियंत्रित राजकीय आतंक और हिंसा थी जिसकी तैयारी दिल्ली चुनाव सम्पन्न होने से पहले से ही की जा रही थी। बस एक मौक़े की तलाश थी जो कपिल मिश्रा की अगुवाई में फ़ासीवादी दंगाइयों की भीड़ को 23 फ़रवरी को मिल गया जब उत्तर-पूर्वी दिल्ली के इलाक़ों में CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ जारी धरनों में से कुछ ने सड़क जाम करनी शुरू की। इसके बाद 4 दिनों तक देश की राजधानी में क़त्लेआम और हिंसा का जो ताण्डव चला, वह दिल्ली के इतिहास में काले अक्षरों में दर्ज होगा। राज्य के तमाम अंग-उपांग मानो लकवा-ग्रस्त हो गये, हालाँकि यह सिर्फ़ दिखने में लगता है। वास्तव में, इस फ़ासीवादी योजना में राज्य द्वारा सोचा-समझा प्रायोजन शामिल था, जैसा कि हरेक राज्य-प्रायोजित हिंसा और साम्प्रदायिक दंगे में होता है।

राज्य की संलिप्तता और मिलीभगत के बग़ैर वैसे भी इस पैमाने की योजनाबद्ध हिंसा को अंजाम देना नामुमकिन है। 4 दिनों तक सुनियोजित तरीक़े से संगठित इस हिंसा और दंगे में 54 लोगों के मारे जाने की ख़बर है और 300 से ज़्यादा लोगों के घायल होने की सूचना है। चूँकि यह एक सरकारी आँकड़ा है, मृतकों और घायलों की संख्या इससे कहीं अधिक हो सकती है। लगभग सभी जगहों पर हिंसा मुसलमान समुदाय के ख़िलाफ़ लक्षित थी जिसमें बाक़ायदा निशानदेही करके मुसलमानों पर हमले किये गये और उनकी सम्पत्तियों और प्रतिष्ठानों, मस्जिदों-मजारों को भारी क्षति पहुँचायी गयी। इसके अलावा कई लोगों के गुमशुदा होने की रिपोर्टें भी सामने आयी हैं। सम्पत्ति जैसे कि मकानों, दुकानों, स्कूलों, शोरूमों आदि को हुआ नुक़सान भी करोड़ों में है। कई इलाक़ों में मुसलमान परिवारों को अपने घरों-रिहायशों से ज़बरन पलायन करना पड़ा है। उत्तर-पूर्वी दिल्ली के कई क्षेत्रों में स्थिति अभी तक तनावपूर्ण बनी हुई है। लोग रात को जाग-जाग कर अपनी रिहायशों की पहरेदारी कर रहे हैं। साम्प्रदायिक हिंसा के इस ताण्डव के बीच जहाँ एक तरफ़ फ़ासीवादी दंगाई-उन्मादी भीड़ की पाशविक बर्बरता और दिल्ली पुलिस की सहअपराधिता और तमाशबीन बने रहने का चेहरा सामने आया, वहीं दूसरी तरफ़ हिन्दू-मुसलमान एकता और अन्य मज़हबों के भाईचारे की कई स्वतःस्फूर्त मर्मस्पर्शी अभिव्यक्तियाँ भी सामने आयीं। कई जगहों पर लोगों ने एक दूसरे की मदद अपनी जान जोखिम में डाल कर भी की और अपने इलाक़ों में अमन-मार्च निकालकर और दंगाइयों को बाहर खदेड़कर एकता-भाईचारे का परिचय दिया। वहीं यह भी सच है की हर साम्प्रदायिक दंगे के बाद, जो कि हमेशा 'मैन्युफ़ैक्चर' किये जाते हैं और फ़ासीवादी नियोजन और राज्य प्रयोजन के ज़रिये ही होते हैं, धार्मिक सम्प्रदायों के बीच अविश्वास की भी एक दीवार खड़ी हो जाती है।

यदि इन हमलों और हिंसा की पृष्ठभूमि पर नज़र डालें,

तो हम पायेंगें कि जब से दिल्ली में CAA-NRC-NPC के विरोध में धरने-प्रदर्शन शुरू हुए, जिसका प्रतीक मुख्य रूप से शाहीन बाग़ बना, उसी समय से संघ परिवार और भाजपा हमला करने और हिंसा भड़काने की फ़िराक़ में थे। शाहीन बाग़ की ही तर्ज़ पर दिल्ली में कई जगह नये शाहीन बाग़ खड़े हुए। उत्तर-पूर्वी दिल्ली में भी ऐसे कई शान्तिपूर्ण धरने शुरू हुए। और न सिर्फ़ दिल्ली में, बल्कि देश के अलग-अलग हिस्सों में भी शान्तिपूर्ण प्रतिरोध का यह मॉडल दोहराया गया। यह बात आज सम्भवतः हर चेतना-सम्पन्न व्यक्ति जानता है कि CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ शुरू हुए आन्दोलन से मोदी सरकार को ख़ासा दिक़्क़त हो रही है और वह बौखलायी हुई है। उत्तर प्रदेश से लेकर उत्तराखण्ड और कर्नाटक तक जहाँ भी भाजपा सरकार है, वहाँ प्रदर्शनकारियों पर पुलिसिया दमन का इस्तेमाल करने से लेकर गिरफ़्तारियों और अब सरेआम प्रदर्शनकारियों के नाम सार्वजनिक करने तक कोई कसर नहीं छोड़ी गयी है।

दिल्ली में तो चुनाव प्रचार अभियान के दौरान भाजपा का पूरा का पूरा प्रॉपगैण्डा (प्रचार) और नैरेटिव (आख्यान) ही शाहीन बाग़ और ऐसे ही अन्य शान्तिपूर्ण धरनों पर केन्द्रित था। भाजपाई मंत्रियों और नेताओं ने शाहीन बाग़ में बैठे प्रदर्शनकारियों को खुली धमकियाँ देने से लेकर इनके ख़िलाफ़ नफ़रत और हिंसा भड़काने के फ़ासीवादी दैनिकी में दर्ज सभी आज़मूदा नुस्ख़े अपनाये। अमित शाह की अगुवाई में भाजपा ने दिल्ली में चुनाव प्रचार के लिए अपनी पूरी ताक़त झोंक दी थी। सैंकड़ो सांसदों और कई मुख्यमंत्रियों की पलटन को दिल्ली बुलाया गया। करोड़ों रूपए चुनाव प्रचार पर ख़र्च किये गये। अमित शाह ने दिल्ली की गलियों में घूम-घूम कर प्रचार किया। स्वयं प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को दिल्ली के चुनाव प्रचार में उतारा गया। और इन सबके केन्द्र में थे शाहीन बाग़ और CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ उड़ खड़े हुए आन्दोलन जिनके ज़रिये भाजपा ने धार्मिक आधार पर ध्रुवीकरण की हर सम्भव कोशिश की। गृहमंत्री अमित शाह से लेकर केन्द्रीय राज्यमंत्री अनुराग ठाकुर और भाजपा सांसद प्रवेश वर्मा तक ने लगातार हिंसक भड़काऊ भाषण दिये और "गोली मारो" से लेकर "गद्दारों-देशद्रोहियों" जैसी भाषा का इस्तेमाल शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों के ख़िलाफ़ किया गया। इसके बाद फिर 23 फ़रवरी को उत्तर-पूर्वी दिल्ली के मौजपुर में भूतपूर्व आम आदमी पार्टी और वर्तमान भाजपा नेता कपिल मिश्रा ने दंगाइयों की एक भीड़ की अगुवाई करते हुए दिल्ली पुलिस के आला अधिकारियों की मौजूदगी में धमकियाँ और भड़काऊ भाषण दिये। दिल्ली पुलिस मूकदर्शक बनी देखती रही और फिर पत्थरबाज़ी और आगजनी की वारदातों से फ़ासीवादी हमलों और हिंसा का चक्र शुरू हुआ। आज के दिन तक दिल्ली के अलग-अलग थानों में 690 प्राथमिकियाँ दर्ज हैं और कुल मिलाकर 2,193 लोगों को पुलिस द्वारा हिरासत में लिया गया है। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है कि साम्प्रदायिक दंगे और हिंसा भड़काने वाले एक भी भाजपा नेता पर किसी तरह की कोई कार्रवाई नहीं की गयी है। दिल्ली में दंगे भड़काने वाले कपिल मिश्रा को तो मोदी सरकार ने अब उनके क्रिया-कलापों के लिए Y+ सिक्युरिटी से भी नवाज़ा है! Y+ सुरक्षा कवच के तहत कपिल मिश्रा को दिल्ली पुलिस के 11 सिपाहियों द्वारा सुरक्षा प्राप्त होगी।

वहीं दूसरी तरफ़ इस हिंसा का उपयोग मोदी सरकार द्वारा उत्तर-पूर्वी दिल्ली में CAA-NRC-NPR के विरोध में चल रहे धरनों को ख़त्म करने के लिए भी किया गया, जो इन फ़ासीवादी हमलों का एक अहम प्रयोजन और मक़सद था। शहर के कई हिस्सों में धारा 144 लगा दी गयी और कर्फ़्यू जैसा माहौल बनाया गया। एक सोची-समझी रणनीति के तहत पुलिसिया दमन और बल-प्रयोग के ज़रिये दहशत, ख़ौफ़ और आतंक का राज क़ायम किया गया। मुस्तफ़ाबाद, चाँदबाग़ और खुरेजी ख़ास में चलने वाली धरनों की जगहों को दिल्ली पुलिस ने आग के हवाले कर दिया, प्रदर्शनकारियों पर बर्बर लाठीचार्ज करके उन्हें तितर-बितर कर दिया और इन धरनों के नेतृत्वकारी लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया। और यह सब कुछ अमन बहाली और क़ानून-व्यवस्था बहाल करने के नाम पर किया गया! इसके अलावा आप पार्षद ताहिर हुसैन को दंगा भड़काने के आरोप में पुलिस हिरासत में भेज दिया गया जोकि दंगाइयों द्वारा हमला किये जाने की स्थिति में और लगातार 100 नम्बर पर फ़ोन करने के बावजूद भी पुलिस द्वारा अनदेखी के चलते सम्भवतः आत्म-रक्षा कर रहे थे। लेकिन इस मामले की जाँच करना भी आवश्यक नहीं समझा गया और आम आदमी पार्टी द्वारा भी उन्हें बिना किसी सुनवाई के पार्टी से निलम्बित कर दिया गया। यह भी आप के अल्पसंख्यकों के प्रति रवैये को दिखलाता है।

जिस वक़्त दिल्ली के तमाम हिस्से सोची-समझी साज़िश के तहत भड़कायी गयी हिंसा और प्रायोजित हमलों का दंश

झेल रहे थे, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के स्वागत में पलक-पांवड़े बिछाए बैठे थे। एक देश का फ़ासीवादी सरगना दूसरे देश के धुर-प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपन्थी सरदार की आवभगत कर रहा था! भांड गोदी मीडिया भी दोनों का भरत-मिलाप और जन्म-जन्मान्तर की यारी देखकर अभिभूत था! अभी भारत के गणतंत्र दिवस के दिन बतौर मुख्य अतिथि ब्राज़ील के धुर दक्षिणपन्थी राष्टपति बोलसेनारो को आमंत्रित किये हुए ज़्यादा वक़्त नहीं गुज़रा है। फ़िलिस्तीन के मसले पर इज़राइल के पक्ष में मोदी हुकूमत पहले ही अपनी अवस्थिति स्पष्ट कर चुकी है। यह सब दिखलाता है कि वैश्विक सन्दर्भ में भी भारतीय हुक्मरानों की नज़दीकी तमाम दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी और हत्यारी ताक़तों से बढ़ रही है। और भांड मीडिया ताली और छाती पीट-पीटकर इसका जश्न मना रहा है कि नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भारत का "वैश्विक प्रभुत्व" की तरफ़ अग्रसर होना लगभग तय है! ग़ौरतलब है कि अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प ने अपने भारत के दौरे के समय घट रही हिंसा और साम्प्रदायिक दंगों को भारत का आन्तरिक मामला बताया और नरेन्द्र मोदी सरकार की धार्मिक स्वतंत्रता और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को लेकर प्रतिबद्धता को रेखांकित किया। इसके बाद हर बार की तरह नरेन्द्र मोदी ने इस बार भी अपने ही पार्टी के गुर्गों द्वारा अंजाम दिये गये हमलों और भड़कायी गयी हिंसा पर अपना दुख और सन्ताप ट्विटर पर व्यक्त किया। इसके साथ ही राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोभाल जिस तरह मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 हटाये जाने के बाद कश्मीर का दौरा करके कश्मीरी अवाम का दुख-दर्द बाँट रहे थे और कॉर्पोरेट मीडिया हमे बता रहा था कि वहाँ सूरत-ए-हाल एक दम दुरुस्त है, वैसा ही एक दौरा डोभाल महोदय ने उत्तर-पूर्वी दिल्ली के हिंसा और दंगा प्रभावित इलाक़ों का किया जिसमें उन्होंने अमन-शान्ति की अपीलें कीं और एक बार फिर कॉर्पोरेट मीडिया ने दरबारी मीडिया होने का पुख़्ता सबूत दिया। पिछले कुछ समय में अजीत डोभाल अमित शाह के "मैन फ़्राइडे" के रूप में उभरकर सामने आये हैं। फ़ासीवादियों द्वारा सब कुछ कर-कराने के बाद नाटक के उपसंहार में आपनी भूमिका अदा करने के लिए आज-कल अक्सर उन्हें ही भेजा जाता है – छद्म-कृत्रिम मलहम की पट्टी के साथ।

न्यायपालिका का चरित्र भी इन हमलों के दौरान और साफ़ हो गया। वैसे अब यह बात किसी से छुपी नहीं है कि संघ परिवार/हिन्दुत्व फ़ासीवादियों द्वारा एक बेहद दीर्घकालिक प्रक्रिया और लम्बे दौर में बहुत ही सुव्यवस्थित और योजनाबद्ध तरीक़े से राज्य मशीनरी के तमाम अंगों, जिसमें कि नौकरशाही, न्यायपालिका, चुनाव आयोग, सैन्य बल, पुलिस, सीबीआई आदि शामिल हैं, में पैठ बनायी गयी है और इन संस्थाओं में अपना विचारधारात्मक वर्चस्व क़ायम किया गया है। शीर्ष पदों से लेकर नीचे की क़तारों तक में संघ की विचारधारा के लोगों को स्थापित किया गया है। पिछले 6 वर्षों में तो बुर्जुआ राज्यसत्ता की तमाम संस्थाओं की खुलकर अवहेलना की गयी है और भारतीय फ़ासीवादियों ने हर-हमेशा इनका इस्तेमाल अपनी हितपूर्ति के लिए किया है। यह 21वीं सदी के फ़ासीवाद की भी विशिष्टता है कि अब उसे बुर्जुआ जनवाद के ख़ोल को उतार फेंकने की कोई ज़रूरत नहीं है। चूँकि बुर्जुआ जनवाद पहले से ही इतना कमज़ोर और खोखला है इसलिए फ़ासीवादियों को इसके वर्चस्वकारी रूप का अपने हित साधन के लिए इस्तेमाल करने से कोई गुरेज़ नहीं है। पूँजीवादी जनवाद की इन संस्थाओं को भारतीय फ़ासीवादियों ने इस हद तक नष्ट और पंगु बना दिया है कि उनके होने नहीं होने का ज़्यादा कोई मतलब नहीं रह गया है। रूप की औपचारिकता तो विद्यमान है मगर अन्तर्वस्तु पूरी तरह से बर्बाद की जा चुकी है। यह अनायास नहीं है कि उच्चतम न्यायलय के न्यायाधीश अरुण मिश्रा को नरेन्द्र मोदी में "बहुमुखी प्रतिभा" और "अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त स्वप्नदर्शी" दिखाई देते हैं! इसके पहले मुख्य न्यायाधीश बोबडे कह ही चुके थे कि वह CAA-NRC-NPR से जुड़े मामलों पर तब तक सुनवाई नहीं करेंगे जब तक हिंसा रुक नहीं जाती। राजकीय हिंसा पर जस्टिस बोबडे के क्या विचार हैं, यह जानना दिलचस्प होगा। दिल्ली हिंसा का स्वतः संज्ञान लेने वाले दिल्ली उच्च न्यायलय के न्यायमूर्ति एस. मुरलीधरन का रातों-रात राष्ट्रपति के आदेश पर पंजाब-हरियाणा हाइकोर्ट तबादला कर दिया गया। ज्ञात हो कि जस्टिस मुरलीधरन की अध्यक्षता में बनी दो सदस्यीय खण्डपीठ ने दिल्ली विधानसभा चुनाव के दौरान भड़काऊ भाषण देने वाले भाजपा नेता व मंत्री अनुराग ठाकुर और सांसद प्रवेश वर्मा और 23 फ़रवरी को मौजपुर-जाफ़राबाद में भड़काऊ भाषण देकर माहौल बिगाड़ने वाले भाजपा नेता कपिल मिश्रा के ख़िलाफ़ एक दिन के भीतर एफ़आईआर दर्ज करने के आदेश दिये थे।

दिल्ली पुलिस की भूमिका पर तो जितनी कम बात की जाये उतना बेहतर है। "अपराधियों के इस सर्वाधिक संगठित गिरोह" द्वारा न सिर्फ़ आपराधिक अनदेखी और लापरवाही की गयी बल्कि कई मौक़ों पर तो इसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष संलिप्तता और सक्रिय भागीदारी भी नज़र आयी। बहुत-सी जगहों पर दिल्ली पुलिस द्वारा फ़ासीवादी दंगाइयों को सीधे मदद पहुँचायी गयी और कहीं-कहीं तो दंगाइयों की अगुवाई तक की गयी। 4 दिनों तक दिल्ली के उत्तर-पूर्वी इलाक़ों में जो क़त्लेआम रचा गया वह सब तो दिल्ली पुलिस की उपस्थिति में ही अंजाम दिया गया। यही नहीं, पुलिस ने मुसलमान युवकों को बर्बर तरीक़े से मारने-पीटने के बाद घायल अवस्था में ज़बर्दस्ती "वन्दे मातरम" और "भारत माता की जय" बोलने तक पर विवश किया। इनके

"पौरुष" के साक्ष्य तो सोशल मीडिया पर अब सहज उपलब्ध हैं। कई स्थानों पर पुलिस के सिपाहियों द्वारा प्रदर्शनकारियों पर पत्थरबाज़ी भी की गयी। ऐसे भी कई वीडियो सामने आये हैं जिनमें पुलिस द्वारा सीसीटीवी कैमरा को तोड़ते हुए देखा जा सकता है। इसके पहले भी जामिया से लेकर जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय कैम्पसों में दिल्ली पुलिस द्वारा अपनी बर्बरता और हैवानियत का नंगा मुज़ाहिरा किया जा चुका है। यह लम्बे समय से जारी पुलिस-बलों के साम्प्रदायीकरण की प्रक्रिया के ही परिणामस्वरूप है। हिन्दुत्व फ़ासीवादियों द्वारा लम्बे समय से जिस वृक्ष को विचारधारात्मक खाद-पानी देने का काम किया जा रहा था, वह अब मनमुआफ़िक़ फल देने लगा है। अब यह बात भी सामने आ चुकी है कि 4 दिनों तक चली इस हिंसा के दौरान प्रभावित लोगों ने अपना जानमाल बचाने के लिए पुलिस को कुल 13,200 कॉल की, जिनपर कोई कार्रवाई नहीं की गयी।

दिल्ली में केजरीवाल सरकार और आम आदमी पार्टी की भी दक्षिणपन्थी लोकरंजक और अवसरवादी व्यवहारवादी राजनीति भी इस दौरान बख़ूबी बेपर्द हो गयी। जिस वक़्त दिल्ली हिंसा और साम्प्रदायिक दंगों की आग में जल रही थी, दिल्ली सरकार की पूरी सियासत ट्विटर तक ही सिमटी रही, जिसपर दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल अपनी असहायता ही प्रकट करते नज़र आये। यह वही अरविन्द केजरीवाल हैं जो 2011-2012 में उस वक़्त दिल्ली की मुख्यमंत्री रही शीला दीक्षित की इसी "असहायता" के लिए खिल्ली उड़ा रहे थे! अपने पार्टी के कार्यकर्ताओं को दंगा-पीड़ित और हिंसा-प्रभावित इलाक़ों में सड़कों पर उतारने की बजाय अरविन्द केजरीवाल अपनी पार्टी के नेताओं के साथ राजघाट पर शान्ति के लिए प्रार्थना कर रहे थे! आप मंत्री गोपाल राय, जिनका विधानसभा क्षेत्र सबसे बर्बर क़िस्म के हमले और हिंसा की चपेट में था, ने भी अपने इलाक़े में जाना तब तक मुनासिब नहीं समझा जब तक कि दंगाइयों द्वारा की जा रही हिंसा, हत्या, आगजनी और लूट रोकी नहीं गयी। यह उस पार्टी के नेताओं का हाल है जो बात-बात पर "तृणमूल जनवाद", "भागीदारी जनवाद", "आम आदमी के सच्चे प्रतिनीधि" जैसे एनजीओ-मार्का नारों और जुमलों का बेतहाशा इस्तेमाल करते हैं। 23 फ़रवरी से 26 फ़रवरी तक इनके तथाकथित "तृणमूल", "भागीदारी" जनवाद में वाक़ई में सिर्फ़ दिल्ली की जनता ही थी, इनके नेता-मंत्री, यहाँ तक कि मुख्यमंत्री भी ग़ायब थे! इससे पहले भी "विचारधारा-विहीन" और "राजनीति-विहीन" राजनीति का परचम बुलन्द करने वाली आम आदमी पार्टी ने CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ चल रहे आन्दोलनों पर न तो अपनी अवस्थिति ही स्पष्ट की थी और न ही CAA-NRC-NPR पर। जहाँ एक तरफ़ तमाम ग़ैर-भाजपा शासित राज्यों की सरकारों ने अपनी विधानसभाओं में CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पारित कर दिये, वहीं दूसरी तरफ़ केजरीवाल और दिल्ली सरकार इस मामले पर मौन-व्रत धारण किये बैठे रहे। हिंसा और दंगों के बाद जो राहत कार्य शुरू हुआ उसमें भी आप सरकार का लचर और असम्पृक्त रवैया ही सामने आया। इसी बीच दिल्ली सरकार ने कन्हैया कुमार, उमर ख़ालिद, अनिर्बान भट्टाचार्य और कई कश्मीरी छात्रों के ख़िलाफ़ राजद्रोह का मुक़दमा चलाने की मंज़ूरी भी दे डाली। आम आदमी पार्टी के इस पैंतरा पलट से भ्रमग्रस्त लिबरल लोगों की जमातों और सदिच्छा रखने वाले तमाम नेकदिल-इन्साफ़पसन्द सेक्युलर नागरिकों को भी समझना होगा कि यह राजनीति वाक़ई में फ़ासीवादी राजनीति की ही पूरक है और अन्तिम विश्लेषण में उसी राजनीति की सेवा करती है, व्यापक अर्थों में उसे ही स्थापित करने का काम करती है।

एक पक्ष जिसकी अनदेखी इन हमलों और हिंसा पर मौजूद तमाम रिपोर्टों और विवरणों ने की वह यह था कि इन दंगों में भी मुख्यतः निशाना मज़दूर वर्ग बना। बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के राजकीय हमलों और साम्प्रदायिक दंगों में मुख्य तौर पर निशाना मज़दूर (हिन्दू और मुसलमान दोनों ही) और विशेष तौर पर प्रवासी मज़दूर बनते हैं। इस बार भी यही हुआ। धार्मिक अल्पसंख्यक तो स्पष्ट तौर पर इन हमलों के निशाने पर थे ही, लेकिन मुसलमान समुदाय के बीच भी आर्थिक और सामाजिक तौर पर सर्वाधिक पिछड़े हिस्से इनका पहला निशाना बने। कोई फ़ैक्टरी में काम करता था, तो कोई रिक्शा या ऑटो चालक था; कोई निर्माण मज़दूर था, तो कोई चूड़ियाँ बेचता था, कोई बढ़ई था तो कोई वेल्डर था। अधिकांश लोगों पर हमले भी तभी हुए जब वह काम से घर लौट रहे थे या अपना छोटा-मोटा काम-धन्धा या दुकान बन्द कर रहे थे। यह कोई संयोग नहीं है। दंगों का इतिहास बताता है कि आम तौर पर हमले के निशाने पर मज़दूर वर्ग ही होता है जो सबसे ज़्यादा अरक्षित होता है और यह भी अनायास नहीं है कि साम्प्रदायिक दंगे और हिंसा भड़कायी ही सबसे पहले उन इलाक़ों में जाती है जहाँ मज़दूरों-आम मेहनतकशों की रिहाइश होती हैं। उत्तर-पूर्वी दिल्ली के जिन हिस्सों में यह हमले करवाये गये, चाहे वह मुस्तफ़ाबाद-चाँदबाग़-शिव विहार हो या फिर खजूरी, सीलमपुर, जाफ़राबाद, ये सब इलाक़े मुख्य तौर पर मज़दूरों या फिर निम्न-मध्यम वर्गों के ही रिहायशी इलाक़े हैं।

अब बतौर नौटंकी इन हमलों और दंगों की जाँच के लिए क्राइम ब्रांच द्वारा दो विशेष जाँच टीमें गठित की गयी हैं। इन जाँच टीमों का ज़िम्मा डीसीपी जॉय टिर्की और डीसीपी राजेश देव को दिया गया है। ये दोनों ही विवादास्पद पुलिस अधिकारी हैं और एबीवीपी द्वारा जेएनयू में हमले तथा शाहीन बाग़ में गोली चलने के मामलों के दौरान सुर्ख़ियों में आये थे। दोनों

ने ही इन मामलों में सत्ताधारी पार्टी और मोदी सरकार के प्रति वफ़ादारी ज़ाहिर की थी। इसलिए इस जाँच का भी क्या होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस समय दिल्ली के अधिकांश हिंसा-प्रभावित इलाक़ों में राहत का काम चल रहा है जो हर लिहाज़ से नाकाफ़ी है। केन्द्र और दिल्ली सरकार द्वारा राहत कार्यों में भी काफ़ी ज़्यादा ढिलाई दिखायी गयी है। स्थिति धीरे-धीरे सामान्य होने की तरफ़ बढ़ रही है लेकिन अभी इसमें वक़्त लगेगा। इन सबके बीच दिल्ली में राज्य-प्रायोजित फ़ासीवादी हमले और उसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों के भड़कने के साथ ही भारतीय फ़ासीवादी ताक़तों ने यह दिखला दिया है कि वे किस हद तक जाने को तैयार हैं। दीर्घकालिक तौर पर संकट-ग्रस्त पूँजीवाद और भयंकर मन्दी झेलती अर्थव्यवस्था के लिए हर ऐसे साम्प्रदायिक हमले और दंगे से पैदा हुआ धार्मिक ध्रुवीकरण और मेहनतकश जनता के बीच पनपने वाला अविश्वास संजीवनी की तरह काम करता है। और फ़ौरी तौर पर CAA-NRC-NPR के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए देशव्यापी आन्दोलन से निपटने के लिए भी ये राजकीय हमले और दंगे फ़ासीवादी मोदी सरकार की विशेष ज़रूरत थे। आज आवश्यकता इस बात की है कि मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी एकजुटता क़ायम की जाये, जनता का आपसी भाईचारा क़ायम किया जाये और इस फ़ौलादी लामबन्दी के आधार पर साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों की साज़िशों और इरादों को बेपर्द किया जाये और इन्हें हर हाल में नाकामयाब कर दिया जाये।

●

'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवायें। 3. 'आह्वान' के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह ज़रूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

प्रति – मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, खाता नं. 21360100010629

साभिवादन,

सम्पादक

सामयिकी

कोरोना वायरस : नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर की महामारी

● आनन्द

कोरोना वायरस का प्रकोप दुनियाभर में तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे 'पैण्डेमिक' (वैश्विक महामारी) घोषित कर दिया है। यह महामारी अब अंटार्कटिका को छोड़कर सभी महाद्वीपों को अपनी चपेट में ले चुकी है। अमेरिका में कोरोना वायरस के संक्रमण के तेज़ी से फैलने की ख़बरों को पहले अफ़वाह बताने वाले ट्रम्प प्रशासन को भी आख़िरकार राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा करनी पड़ी जिससे समझा जा सकता है कि स्थिति कितनी ख़तरनाक है। यह लेख लिखे जाने तक विश्व में कोरोना वायरस से संक्रमित लोगों की संख्या डेढ़ लाख तक पहुँच चुकी थी और पाँच हज़ार से ज़्यादा लोग इस वायरस के संक्रमण की वजह से जान गँवा चुके थे। भारत में भी अब तक कोरोना वायरस के संक्रमण की वजह से दो मौतें हो चुकी हैं और 85 लोगों में यह संक्रमण पाया गया है। आने वाले दिनों में इस महामारी के तेज़ी से फैलने के आसार हैं। वैज्ञानिक कोरोना वायरस की उत्पत्ति को प्रकृति के बेहिसाब दोहन से जोड़कर देख रहे हैं जिसके लिए सीधे तौर पर पूँजीवाद ज़िम्मेदार है।

हालाँकि भविष्य में भी कोरोना जैसे वायरस की उत्पत्ति की सम्भावना को पूरी तरह ख़त्म नहीं किया जा सकता, लेकिन विभिन्न देशों के मेडिकल विशेषज्ञ इस बात की ताईद कर रहे हैं कि सरकारों की चौकसी और बेहतर सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था की बदौलत इस तरह के संक्रमण को महामारी में तब्दील होने से रोका जा सकता था। परन्तु नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में दुनिया के तमाम मुल्क़ों में बेतहाशा निजीकरण के चलते सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था लचर हो चुकी है जिसकी वजह से इस बीमारी की रोकथाम उचित ढंग से नहीं हो सकी। तमाम देशों की सरकारों ने भी इस महामारी को फैलने से रोकने के लिए सही समय पर चौकसी नहीं दिखायी। साम्राज्यवादी लूट की बदौलत विलासिता के शिखर पर बैठे अमेरिका तक में कोरोना वायरस के परीक्षण के लिए किट और N95 फ़ेसमास्क पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सके जिसकी वजह से वहाँ इस बीमारी को फैलने से नहीं रोका जा सका।

कोरोना के सम्मुख ग़रीब और मेहनतकश आबादी की बेबसी

कोरोना जैसी महामारी के समय पूँजीवादी समाज की वर्गीय खाई और मानसिक श्रम व शारीरिक श्रम करने वाले लोगों के बीच की खाई उभरकर सतह पर दिखायी देने लगती है। इस महामारी की रोकथाम के लिए डॉक्टर लोगों को सामूहिक स्थानों पर जाने से बचने की सलाह दे रहे हैं। इस सलाह को ध्यान में रखते हुए दुनियाभर में कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने कर्मचारियों को घर से ही काम करने की इजाज़त दे रही हैं ताकि उन्हें ऑफ़िस न जाना पड़े। लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि घर से काम करने की सुविधा का लाभ केवल उन पेशों और उन पदों पर काम करने वालों को मिल सकता है जो कम्प्यूटर और इण्टरनेट की मदद से काम करते हैं। परन्तु अधिकांश पेशों में ख़ासतौर पर शारीरिक श्रम करने वाले लोगों को अपनी आजीविका चलाने के लिए अपने कार्यस्थल तो जाना ही पड़ेगा। ऐसे में समाज की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को इस संक्रमण की चपेट में आने का ख़तरा लम्बे समय तक बना रहेगा।

कोरोना वायरस की चपेट में आने पर डॉक्टर मरीज़ को बिल्कुल अलग-थलग करने की सलाह देते हैं ताकि किसी अन्य व्यक्ति को यह संक्रमण न फैल सके। इसके लिए अस्पतालों में ऐसी सुविधाएँ होनी चाहिए और घरों में इतनी

जगह होनी चाहिए कि कोरोना के मरीज़ को अलग-थलग किया जा सके। धनी लोग पैसे के दम पर निजी अस्पतालों में मरीज़ का इलाज करवा सकते हैं और अपने घरों में भी पर्याप्त जगह के अलावा सैनिटाइज़र, मास्क, टिश्यू पेपर जैसी चीज़ों की बदौलत इस वायरस के संक्रमण की सम्भावना को कम कर सकते हैं, लेकिन बहुलांश मेहनतकश आबादी न तो निजी अस्पतालों में जा सकती है, न ही उसके घर में पर्याप्त जगह होती है कि परिवार के अन्य सदस्य मरीज़ से दूरी बना सकें और न ही वे सैनिटाइज़र, मास्क, टिश्यू पेपर जैसी चीज़ें अफ़ोर्ड कर सकती है। कोरोना महामारी के मद्देनज़र मध्य वर्ग और धनिक वर्ग ने अपनी ज़रूरत के सामानों और राशन का स्टॉक जमा करना शुरू कर दिया है ताकि उनकी क़िल्लत होने पर उन्हें कोई दिक़्क़त न हो। ज़ाहिरा तौर पर अधिकांश मेहनतकश आबादी इसके बारे में सोच भी नहीं सकती।

इसका सही-सही अनुमान लगाना भी मुश्किल है कि ग़रीब मेहनतकशों के घरों में कितने लोग पहले ही इस वायरस से संक्रमति हो चुके होंगे क्योंकि इसके टेस्ट की पहुँच ही उन तक नहीं है। मेडिकल क्षेत्र के विशेषज्ञ यह भी बता रहे हैं कि कुपोषण के शिकार लोगों में इस वायरस के संक्रमित होने का ख़तरा ज़्यादा होता है। ऐसे में ग़रीब आबादी में इस वायरस के फैलने से स्थिति क़ाबू से बाहर हो सकती है। यही नहीं, कोरोना महामारी के आतंक से दुनियाभर की अर्थव्यवस्थाएँ भी लड़खड़ाने लगी हैं जिसका सबसे ज़्यादा असर मेहनतकश आबादी पर ही हो रहा है क्योंकि उनके सामने आजीविका का संकट उठ खड़ा हुआ है। ऐसे में ज़ाहिर है कि कोरोना की वैश्विक महामारी के सामने मेहनत-मज़दूरी करने वाले लोग ही ख़ुद को सबसे ज़्यादा लाचार पा रहे हैं।

लचर सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था इस महामारी को फैलने में मदद कर रही है

यह बात सच है कि भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में देशों की सीमाओं के आर-पार लोगों की बढ़ती आवाजाही की वजह से कोरोना वायरस के प्रकोप को भूमण्डलीकृत स्वरूप अख़्तियार करने में मदद मिली है। परन्तु यह भी सच है कि दुनिया के तमाम देशों में यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएँ बेहतर होतीं तो इसके फैलाव को कम किया जा सकता था और इसे महामारी बनने से रोका जा सकता था। लेकिन नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के इस दौर में न सिर्फ़ तीसरी दुनिया के देशों में, बल्कि विकसित देशों में मुनाफ़े की हवस में सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था की कमर तोड़कर निजी अस्पतालों को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिसकी वजह से कोरोना महामारी पर नकेल कसने में दिक़्क़त आ रही है। ग़ौरतलब है कि कोरोना वायरस के संक्रमण से बचने के लिए सैनिटाइज़र, फ़ेसमास्क जैसी चीज़ों की ज़रूरत है जो पूँजीवाद में लोगों की ज़रूरतें पूरी करने की बजाय मुनाफ़े के लिए पैदा की जाती हैं। कोरोना के संक्रमण के फैलाव को देखते हुए इन अत्यन्त आवश्यक चीज़ों की जमाखोरी भी शुरू होने लगी है जिसकी वजह से आम आबादी इस ख़तरनाक वायरस के सामने ख़ुद को निहत्था पा रही है।

कोरोना वायरस से संक्रमित होने के बाद मरीज़ को अस्पताल के अन्य मरीज़ों से अलग-थलग करने के लिए विशेष सुविधाओं की ज़रूरत होती है ताकि संक्रमण अन्य लोगों तक न फैले। अगर ऐसे मरीज़ों की संख्या बढ़ती है तो ज़ाहिरा तौर पर ऐसी सुविधाओं की ज़रूरत ज़्यादा होगी। चीन में समाजवादी अतीत की वजह से वहाँ स्वास्थ्य सुविधाएँ अभी भी सरकार के नियंत्रण में हैं जिसकी वजह से वहाँ कोरोना वायरस के संक्रमण को काफ़ी हद तक क़ाबू में किया जा सका, हालाँकि वहाँ भी अगर आज समाजवादी व्यवस्था क़ायम होती तो इस बीमारी को फैलने से बहुत पहले ही रोका जा सकता था। फिर भी चीन ने वुहान शहर में तो कोरोना संक्रमण के लिए विशेष रूप से 1000 बेड वाला अस्पताल 6 दिनों के भीतर बना लिया। लेकिन दुनिया में कितने देशों में सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था पर सरकार का इतना नियंत्रण है? अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी मुल्क़ में भी कोरोना के संक्रमण को समय रहते क़ाबू में न कर पाने के लिए ट्रम्प की चौतरफ़ा निन्दा हो रही है। इटली और स्पेन जैसे देशों में भी यह बीमारी बहुत तेज़ी से फैल गयी। जब इन विकसित मुल्क़ों में सरकारें कोरोना को फैलने से रोकने में नाकाम साबित हुईं तो अब जबकि यह वायरस इरान, फ़िलीपींस और भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में फैल चुका है, आने वाले दिन बेहद चुनौतीपूर्ण होने वाले हैं।

ग़ौरतलब है कि कोरोना वायरस की रोकथाम की कोई दवा अभी तक नहीं खोजी जा सकी है और न ही इसका कोई टीका ही खोजा जा सका है। विशेषज्ञों का कहना है कोरोना की काट के लिए दवा बनायी जा सकती है, परन्तु उसके लिए जिस स्तर के शोध और अनुसन्धान की ज़रूरत है वह इस समय नहीं हो रहा है। बेहिसाब मुनाफ़ा पीटने वाली दैत्याकार फ़ार्मा कम्पनियाँ फ़्लू के लिए एण्टीवायरल और एण्टीबॉयोटिक दवाओं की बजाय मोटापा कम करने, ट्रैंकिलाइज़र, पुंसकत्व बढ़ाने और जीवनशैली से सम्बन्धित रोगों की दवाओं पर शोध करने में ज़्यादा संसाधन ख़र्च करती हैं जो धनिक और मध्यवर्ग की ज़रूरते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि फ़्लू के टीकाकरण या एण्टीवायरल दवा पर शोध बेहद महँगा होता है और उसकी माँग बहुत सीमित होती है जो मुनाफ़े पर टिकी फ़ार्मा कम्पिनयों को नहीं आकर्षित करती हैं। हालाँकि महामारी के समय ऐसी दवाओं की माँग फैलती है, लेकिन महामारी के क़ाबू में आने के

(पेज 19 पर जारी)

सामयिकी

दिल्ली विधानसभा चुनाव 2020 में फिर से आम आदमी पार्टी की जीत के मायने : एक मज़दूर वर्गीय नज़रिया

● अभिनव

जैसा कि उम्मीद थी, दिल्ली विधानसभा चुनावों में केजरीवाल की अगुवाई वाली आम आदमी पार्टी को भारी जीत हासिल हुई। इसमें आम आदमी पार्टी द्वारा दी जा रही 200 यूनिट मुफ़्त बिजली और मुफ़्त पानी का निश्चित तौर पर एक योगदान है। लेकिन ये अपने आप में आम आदमी पार्टी की लहर की पूरी तरह से व्याख्या नहीं कर सकते हैं। इसके पीछे अन्य कई राजनीतिक और आर्थिक कारण मौजूद हैं, जिन पर हम इस लेख में आगे चर्चा करेंगे।

मोदी-शाह की हार पर ख़ुश होने और 'आप' की जीत पर ख़ुश होने में फ़र्क़ है!

मोदी-शाह की अगुवाई वाली भाजपा की करारी हार से हर जनवादी, सेक्युलर और जनपक्षधर व्यक्ति को ख़ुशी हुई है। होनी भी चाहिए। साम्प्रदायिकता के एजेण्डे को चुनावों का प्रमुख एजेण्डा बनाने के लाख प्रयासों के बावजूद भाजपा चुनाव जीतने में सफल नहीं हो सकी। लेकिन भाजपा की हार पर ख़ुश होने के साथ कई लिबरल, लिब-डेम क़िस्म के लोग 'आप' की जीत पर भी ख़ुश हैं। हालाँकि इन दोनों में फ़र्क़ है। आप आम आदमी पार्टी की जीत पर ख़ुश हुए बिना, भाजपा की हार पर ख़ुश हो सकते हैं! हम ऐसा क्यों कह रहे हैं, इसे समझ लेते हैं।

जिन्होंने भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी के पूरे चुनाव अभियान को क़रीबी से देखा है, वह अच्छी तरह जानते हैं कि भाजपा के हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद के एजेण्डे के बरक्स, अरविन्द केजरीवाल ने कोई सही मायनों में सेक्युलर, जनवादी और प्रगतिशील एजेण्डा नहीं रखा था। उल्टे केजरीवाल ने 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' का कार्ड खेला। अपने आपको हिन्दू, हनुमान-भक्त आदि साबित करने में केजरीवाल ने कोई कसर नहीं छोड़ी। साथ ही, कश्मीर में 370 हटाने पर मोदी को बधाई देने से लेकर, जामिया और जेएनयू पर हुए पुलिसिया अत्याचार और शाहीन बाग़ और सीएए-एनआरसी-एनपीआर जैसे सबसे ज्वलन्त और व्यापक मेहनतकश आबादी को प्रभावित करने वाले प्रमुख मसलों के सवाल पर चुप्पी साधे रहने तक, केजरीवाल और आम आदमी पार्टी ने मोदी-शाह-नीत भाजपा के कोर एजेण्डा से किनारा काटकर निकल लेने (*सर्कमवेण्ट* करने) की रणनीति अपनायी। तात्कालिक तौर पर, इस रणनीति का फ़ायदा आम आदमी पार्टी को मिला है। लेकिन ऐसी रणनीति दूरगामी तौर पर हमेशा ही हिन्दुत्ववादी एजेण्डे को ही फ़ायदा पहुँचाती है, क्योंकि अन्ततः यह हिन्दुत्व के एजेण्डा को ही वैध ठहराती है, उसे *लेजिटिमाइज़* करती है, या कम-से-कम उसे स्वीकार्य तो बनाती ही है। कांग्रेस ने एक अलग तरीक़े से 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' की लाइन अपनायी थी। कांग्रेस को भी इसका तात्कालिक लाभ मिला था। लेकिन किसी भी ब्राण्ड का 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' आख़िरी विश्लेषण में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद को ही लाभ पहुँचाता है, यह 1980 के दशक का मध्य आते-आते स्पष्ट हो चुका था। केजरीवाल और 'आप' द्वारा 'सॉफ़्ट हिन्दुत्व' की लाइन अपनाने का भी अन्तिम नतीजा यही होगा। ऐसा किस रूप में होगा, यह आज बताने का प्रयास करना अटकलबाज़ी होगी।

आम आदमी पार्टी की दक्षिणपन्थी लोकरंजक और अवसरवादी रणनीति

आम आदमी पार्टी ने बैल को सींग से न पकड़ने की रणनीति अपनायी। इसका एक उदाहरण चुनावों में आम आदमी पार्टी के नारे भी थे। मिसाल के तौर पर, इस नारे पर ग़ौर करें : 'दिल्ली में *तो* केजरीवाल'। जो भी हिन्दी भाषा में 'तो' के प्रयोग से वाक़िफ़ हैं, वे इस व्याकरणिक तौर पर अधूरे नारे को

पूरा कर सकते हैं, इस प्रकार से : 'दिल्ली में *तो* केजरीवाल, देश में मोदी'। आम आदमी पार्टी और भाजपा के ही कुछ ग्रासरूट समर्थकों ने अपने-अपने इलाक़े में इस नारे को इसी प्रकार से पूरा कर भी दिया! दिल्ली के कई इलाक़ों में ऐसे पोस्टर देखे जा सकते थे जो कि देश में मोदी की और दिल्ली में केजरीवाल के नारे की हिमायत कर रहे थे। यह अनायास नहीं था, बल्कि यह आम आदमी पार्टी की राजनीतिक रणनीति का ही लाज़िमी नतीजा था।

▪ शाहीन बाग़ और सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर 'आप' का स्टैण्ड

शाहीन बाग़ से शुरू हुए ऐतिहासिक आन्दोलन पर भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी ने मौक़ापरस्त पोज़ीशन अपनायी। शुरुआत में दबे स्वर में सीएए का विरोध किया गया और शाहीन बाग़ का दबे स्वर में समर्थन किया गया, या फिर सरकार से शाहीन बाग़ के प्रदर्शनकारियों से संवाद करने की गुहार लगायी गयी। लेकिन जैसे-जैसे भाजपा अपने साम्प्रदायिक एजेण्डा पर अधिक से अधिक आक्रामक होती गयी, वैसे-वैसे आम आदमी पार्टी ने पहले चुप्पी की रणनीति अपनायी और फिर यहाँ तक पहुँच गयी कि केजरीवाल ने यह शर्मनाक बयान दिया कि अगर दिल्ली पुलिस उसके हाथ में होती तो वह दो घण्टे में शाहीन बाग़ के प्रदर्शन को उठवा देता।

आज के समय सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर 'आप' कुछ बोल ही नहीं रही है! अगर उससे पूछा जाता है तो वह कहती है कि हम पहले दिल्ली के स्थानीय मुद्दों पर ही बात करेंगे। निश्चित तौर पर, यदि एनआरसी लागू होता है तो वह राष्ट्रीय मुद्दा होने के साथ-साथ दिल्ली के ग़रीब मेहनतकशों के लिए स्थानीय राजनीतिक मुद्दा भी बन जायेगा। लेकिन केजरीवाल और 'आप' इस मुद्दे पर चुप्पी साधे हुए हैं क्योंकि उनकी राजनीति का भी एक आयाम 'भारत माता की जय' – स्टाइल राष्ट्रवाद है और राष्ट्रवादी राजनीति का एक आयाम बाहरी-अन्दरी (आउटसाइडर-इनसाइडर), क़ानूनी-ग़ैरक़ानूनी प्रवासी/शरणार्थी का युग्म (बाइनरी) होता है। इसलिए 'विदेशियों की पहचान करके इन दीमकों को साफ़ करने' के शाह के तर्क का 'आप' कोई जवाब नहीं दे सकती। ख़ैर, इस भयंकर सोच को लेकर 'आप' के बारे में क्या कहा जाये, जबकि अपने आपको क्रान्तिकारी कहने वाले कई संगठन ही देश में तो एनआरसी का विरोध करते हैं, मगर असम में एनआरसी पर गोलमोल पोज़ीशन अपनाते हुए 'शरणार्थी समस्या', 'संसाधनों की समस्या', 'मूल निवासियों के अल्पसंख्या बन जाने की समस्या' और 'क़ौमी संस्कृति और भाषा को शरणार्थियों के बढ़ने से पैदा होने वाली समस्या' का ज़िक्र करते हैं! कोई भी प्रगतिशील और जनवादी व्यक्ति समझ सकता है कि इस प्रकार के वाहियात तर्कों का इस्तेमाल केवल बुर्जुआ राष्ट्रवादी करते हैं। लेकिन अफ़सोस की बात है कि इनका शिकार आज के समय में कुछ क्रान्तिकारी माने जाने वाले संगठन भी हो गये हैं।

बहरहाल, मसला यह है कि अपनी दक्षिणपन्थी लोकरंजक राजनीति के कारण 'आप' स्वाभाविक तौर पर सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर कोई सिद्धान्तनिष्ठ प्रतिरोध कर पाने में अक्षम है।

▪ 'आप' और केजरीवाल की राजनीति का मज़दूर-विरोधी और निम्न-पूँजीवादी चरित्र

स्पष्ट है कि केजरीवाल ने मोदी द्वारा श्रम क़ानूनों में संशोधन ('बचे-खुचे श्रम क़ानूनों की हत्या' पढ़ें) जैसे मज़दूर-विरोधी क़दमों पर कभी मुँह नहीं खोला। दिल्ली में हर वर्ष न्यूनतम मज़दूरी ज़रूर बढ़ायी गयी, लेकिन सिर्फ़ इसलिए क्योंकि यह कहीं लागू ही नहीं होती है! ख़ुद आम आदमी पार्टी के कारख़ानेदार नेता जैसे कि गिरीश सोनी, राजेश गुप्ता आदि अपने और अपने रिश्तेदारों के कारख़ानों में न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, सुरक्षा उपकरणों, साप्ताहिक छुट्टी आदि के श्रम क़ानूनों का खुलेआम उल्लंघन करते हैं। ज़ाहिर है, जब केजरीवाल ने यह कहा था कि उनकी नस-नस में ख़ून के रूप में 'धन्धा' दौड़ रहा है और पूँजीपतियों को उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो इसका यही मतलब था कि अगर दिल्ली में आम आदमी पार्टी की सरकार बनी तो श्रम क़ानूनों, कारख़ाना क़ानूनों से मुक्ति और साथ ही आयकर विभाग के छापों से मुक्ति।

दिल्ली छोटे पूँजीपतियों (औद्योगिक और व्यापारिक) का शहर है। दिल्ली में केजरीवाल की सफलता का एक प्रमुख कारण यह है कि दिल्ली के छोटे और मंझोले कारख़ाना-मालिकों, ठेकेदारों, बिचौलियों, दुकानदारों ने अपना पाला भाजपा से बदलकर आम आदमी पार्टी को अपना समर्थन दे दिया। बड़े पूँजीपतियों से भी आम आदमी पार्टी की कोई दुश्मनी

नहीं है। यही कारण है कि उसे भारती मित्तल और टाटा से लेकर सत्या इलेक्टोरल ट्रस्ट से काफ़ी बड़ा चुनावी चन्दा मिलता है। इसका एक कारण यह भी है कि दिल्ली में विद्युत वितरण का जो निजीकरण कांग्रेस सरकार ने किया था उसे केजरीवाल सरकार ने क़ायम रखा है और बिजली के बिल पर जो सब्सिडी वह दे रही है, उससे टाटा और अम्बानी को कोई हानि नहीं है। उल्टे यह सब्सिडी सरकारी ख़ज़ाने से दी जा रही है जो कि जनता के करों से ही आता है। इसे ज़्यादा से ज़्यादा आंशिक रूप में नवउदारवादी और दक्षिणपन्थी शैली में 'समृद्धि का पुनर्वितरण' कहा जा सकता है। लेकिन कुल-मिलाकर जनता के लिए इसका मतलब एक हाथ से चवन्नी देना और दूसरे हाथ से चवन्नी लेना ही है। हालाँकि तात्कालिक तौर पर लोगों को इससे राहत महसूस होती है और इस अहसास को आम आदमी पार्टी को चुनावों में लाज़िमी तौर पर फ़ायदा पहुँचा है। लेकिन यदि, मिसाल के तौर पर, दिल्ली में बिजली के निजीकरण को समाप्त किये बिना सरकार बिजली के बिलों पर सब्सिडी देती है, तो वह पूँजीपति वर्ग को कहीं कोई हानि नहीं पहुँचाता है, बस जनता को राहत का एक भ्रामक अहसास देता है क्योंकि केजरीवाल सब्सिडी सरकारी ख़ज़ाने से ही देता है और उसका बोझ *अन्ततः* जनता पर ही पड़ता है। लेकिन तात्कालिक राहत में यह सच्चाई छिप जाती है और केजरीवाल और 'आप' इसी का लाभ उठाते हैं।

लुब्बेलुबाब यह कि केजरीवाल और आम आदमी पार्टी की रणनीति के तीन बुनियादी पहलू ऐसे हैं, जो कि उसके राजनीतिक वर्ग चरित्र को काफ़ी हद तक उजागर कर देते हैं : पहला, मोदी-शाह और संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद से सीधे टक्कर मोल न लेना या उसकी साफ़ शब्दों में मुख़ालफ़त न करना; दूसरा, पूँजी-परस्त नीतियों के मामले में मोदी को पूरा समर्थन देना; और तीसरा, अन्धराष्ट्रवाद के एजेण्डा पर भाजपा का विरोध न करना, उल्टा, अन्धराष्ट्रवाद का एक अपना ही अलग ब्राण्ड पेश करना। इन तथ्यों के आधार पर ही हम आम आदमी पार्टी की विचारधारा और राजनीति के चरित्र को भी समझ सकते हैं।

आम आदमी पार्टी की विचारधारा क्या है? — प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपन्थी अवसरवाद और व्यवहारवाद!

आम आदमी पार्टी की राजनीति क्या है? — दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद!

आम आदमी पार्टी का वर्ग आधार क्या है? — *राजनीतिक* व सामाजिक रूप से पूँजीपति वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग तथा *सामाजिक* रूप से सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग का एक हिस्सा!

आम आदमी पार्टी की विचारधारा वास्तव में प्रतिक्रियावादी अवसरवाद और व्यवहारवाद की टटपुँजिया विचारधारा है। इस विचारधारा का दावा यह है कि विचारधारा जैसी कोई चीज़ नहीं होती! यानी किसी भी चीज़ का कोई आम सिद्धान्त नहीं होता है। लेकिन जैसा कि पिछला वाक्य पढ़कर समझदार लोग समझ गये होंगे, यह कहना कि 'कोई आम सिद्धान्त नहीं होता है' स्वयं एक आम सिद्धान्त ही है, एक सामान्यीकरण ही है।

▪ 'आप' की दक्षिणपन्थी अवसरवादी और व्यवहारवादी विचारधारा

केजरीवाल और आम आदमी पार्टी के नेताओं को अक्सर यह कहते सुना जा सकता है कि वह 'लेफ़्ट' या 'राइट' में यक़ीन नहीं करते! वह बस 'मुद्दों की राजनीति' करते हैं! यह खोखला दावा है। कारण यह कि मुद्दों का आपका चुनाव और उन चुने गये मुद्दों पर आपकी अवस्थिति आपके आम नज़रिये या विश्व-दृष्टि से तय होती है। यही कारण है कि आम आदमी पार्टी ने राष्ट्रवाद, धर्म, साम्प्रदायिकता, आदि पर जो अवस्थिति अपना रखी है, वह वास्तव में दक्षिणपन्थी अवस्थिति है। यही कारण है कि आम आदमी पार्टी एक वर्गेतर नज़रिया रखने का दावा करती है और दावा करती है कि अच्छे और बुरे का उसका पैमाना भ्रष्टाचार और सदाचार से तय होता है। एक वर्ग समाज में वर्गेतर पोज़ीशन रखने का दावा प्रभुत्वशाली वर्गों का पक्ष लेना ही होता है; टटपुँजिया वर्ग अवस्थिति रखने वाले तमाम ईमानदार बुद्धिजीवी ऐसा अनजाने भी करते हैं, लेकिन केजरीवाल और 'आम आदमी पार्टी' के बारे में ऐसा क़तई नहीं कहा जा सकता है, कि वे अनजाने ऐसा कर रहे हैं!

'आम आदमी पार्टी' के लिए भ्रष्टाचार का अर्थ केवल सरकारी कर्मचारियों और चुनावबाज़ नेताओं द्वारा ली जाने वाली रिश्वत और किये जाने वाले घपलों तक सीमित है। संविधानसम्मत और विधिसम्मत भ्रष्टाचार को केजरीवाल और आम आदमी पार्टी सदाचार की श्रेणी में ही रखते हैं। मिसाल के तौर पर, श्रमशक्ति का शोषण और मुनाफ़े का अधिग्रहण भ्रष्टाचार में नहीं आता है। यहाँ तक कि अगर निजी उद्यमी (पूँजीपति) भ्रष्टाचार करे तो उस पर केजरीवाल और आम आदमी पार्टी की आँखें बन्द रहती हैं, केजरीवाल को पूँजीपतियों के लिए जूनियर मोदी बनकर 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' भी तो देना है। 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' : ज़रा इस वाक्यांश के अर्थ के बारे में सोचिए! 'बिज़नेस' का अर्थ ही होता है श्रमशक्ति के शोषण के आधार पर मुनाफ़ा निचोड़ना; 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' का अर्थ है कि श्रमशक्ति के शोषण के ज़रिये मुनाफ़ा पीटने की राह में सारी बाधाओं को हटाना। इसमें 'वन विण्डो क्लियरेंस', पूँजीपतियों द्वारा स्वप्रमाणीकरण की व्यवस्था आदि जैसी

नीतियों के अलावा मुख्य होता है श्रम क़ानूनों से छुटकारा। पूँजीपतियों की यह सेवा करने में केजरीवाल कहीं भी मोदी से पीछे नहीं है और कुछ पूँजीपति तो केजरीवाल मॉडल को बेहतर मानते हैं कि क्योंकि वह यह सेवा प्रदान करने में कोई भ्रष्टाचार नहीं करता! यानी लूट के माल में औद्योगिक व व्यापारिक पूँजीपति वर्ग से नौकरशाह पूँजीपति वर्ग भ्रष्टाचार के ज़रिये जो एक हिस्सा वसूलता है, केजरीवाल ने उस हिस्से को न्यूनातिन्यून कर दिया है! लेकिन भ्रष्टाचार-रहित प्रशासन से केजरीवाल और 'आप' का अर्थ है पूँजीपति वर्ग और ज़्यादा से ज़्यादा मध्य वर्ग के लिए भ्रष्टाचार से मुक्ति, वह भी तब यदि हम भ्रष्टाचार का अर्थ केवल रिश्वतखोरी और घपले के निहायत सीमित अर्थों में लें। लेकिन मज़दूरों को प्रशासन द्वारा तमाम क़ानूनी अधिकारों से वंचित किया जाना केजरीवाल और 'आप' के भ्रष्टाचार की परिभाषा में नहीं आता है। वह तो 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' है और भाजपा के समान 'आप' का भी मानना है कि समाज में समृद्धि पैदा करने वाला वर्ग तो पूँजीपति वर्ग है और उस पर कोई बोझ नहीं पड़ना चाहिए। वह तो मालिक है, वही तो रोज़गार देता है! इसलिए इस रोज़गार-दाता, उद्यमी और समृद्धिजनक वर्ग पर कोई बोझ नहीं पड़ना चाहिए और उसे श्रम क़ानूनों के स्पीडब्रेकरों से पूरी मुक्ति मिली चाहिए ताकि 'ईज़ ऑफ़ बिज़नेस' मिल सके। इसलिए श्रम क़ानूनों का दिल्ली में खुल्लेआम और अन्धाधुन्ध उल्लंघन कोई भ्रष्टाचार नहीं है! मिसाल के तौर पर, यदि कारख़ानेदार श्रम क़ानूनों को लागू न करें, दुकानदार बिक्री कर व आयकर की चोरी करें, क़ानूनों को लागू न करें तो वह भ्रष्टाचार नहीं बल्कि उद्यमिता की श्रेणी में आता है! इसलिए 'आप' की तथाकथित वर्गेतर सोच के पीछे विशेष तौर पर छोटे मालिकों और आम तौर पर पूँजीपति वर्ग का हित और उनका वर्ग नज़रिया ही मौजूद है। यही कारण है कि मज़दूरों की दिल्ली में औद्योगिक दुर्घटनाओं में बढ़ती मौतों पर केजरीवाल चुप है; श्रम क़ानूनों के संशोधन पर वह चुप है; ठेका प्रथा के उन्मूलन के अपने शुरुआती वायदे पर अमल से मुकर जाने के मामले में केजरीवाल चुप है। तो केजरीवाल इस तरह से एक वर्गेतर नज़रिया अपनाने का दावा करता है और 'राइट' के कन्धे पर बैठकर, 'राइट' और 'लेफ़्ट' से इतर होने का दावा करता है। यही नज़रिया दरअसल पूँजीवादी दक्षिणपन्थी अवसरवाद और व्यवहारवाद की विचारधारा है।

विचारधारात्मक तौर पर, जब कोई पार्टी या नेता कोई विचारधारा न रखने का दावा करता है, तो आप मानकर चल सकते हैं कि वह उसी विचारधारा का हामी है, जो कि शासक वर्गों की विचारधारा है। यह एक विचारधारात्मक अवसरवाद है। यह केजरीवाल और 'आप' को यह लचीलापन प्रदान करता है कि वह विभिन्न मसलों पर कभी कोई तो कभी कोई अवस्थिति अपना सकते हैं। मिसाल के तौर पर, सीएए-एनआरसी के मसले पर भी इनका सुर इसी प्रकार बदला है।

▪ 'आप' की दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति

इनका प्रतिक्रियावादी व्यवहारवाद 'जब जो कारगर हो, उसे लागू करो' ('व्हाटेवर वर्क्स') के नारे पर काम करता है। यह दीगर बात है कि आम तौर पर लम्बी दूरी में पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में 'कारगर' और 'सुविधाजनक' वही होता है, जो कि पूँजीपति वर्ग के हित में हो। यही विचारधारा केजरीवाल की राजनीति के चरित्र को निर्धारित करती है।

पिछले पाँच वर्षों के केजरीवाल के शासन में यह बात स्पष्ट तौर पर दिखलाई भी पड़ती है। जब केजरीवाल ने राजनीति में प्रवेश किया था, तो उसे मज़दूर वर्ग के वोटों की ज़रूरत थी। इसलिए उसने वायदा किया कि सरकार बनने पर वह दिल्ली से ठेका प्रथा को समाप्त करेगा, 55 हज़ार ख़ाली पदों को भरेगा, आदि। लेकिन 49 दिनों की सरकार में जब मज़दूर वर्ग के राजनीतिक रूप से सचेत हिस्से ने इन वायदों को पूरा करने के लिए उसके ऊपर दबाव बनाया तो वह मुख्यमंत्री के काँटों के ताज को उतारकर बहाने बनाते हुए भाग गया। लेकिन इस बीच उसने दिल्ली के टटपुँजिया और अर्द्धसर्वहारा वर्गों में अपनी पकड़ बनायी। इसके लिए कई पैंतरों का इस्तेमाल किया गया। इसमें अपने विधायकों के ज़रिये झुग्गीवासियों के राशन कार्ड, जाति पहचान पत्र, वोटर कार्ड आदि बनवाने में मदद करवाना, रियायती दरों पर पानी, बिजली आदि देना, झुग्गी गिराने आदि की कार्रवाइयों पर आंशिक रूप से रोक लगाना आदि शामिल था। चूंकि भाजपा और कांग्रेस की सरकारों के विधायक इस हद तक भी आम निम्न मध्यवर्गीय जनता की पहुँच में नहीं रहते थे, इसलिए निम्न मध्यवर्ग के लोगों के बीच इस चीज़ ने 'आप' का एक आधार तैयार किया। पहले 49 दिनों में ही दिल्ली के व्यापारियों को सेल्स टैक्स व इनकम टैक्स विभाग के छापों से केजरीवाल सरकार ने अपने पहले कार्यकाल में छुटकारा दिला दिया था। इसके कारण, दिल्ली के छोटे पूँजीपति वर्ग के एक बड़े हिस्से ने आम आदमी पार्टी का समर्थन शुरू कर दिया था। लेकिन अगले चुनावों के प्रचार में केजरीवाल ने मज़दूरों से पिछली बार किया ठेका प्रथा समाप्त करने का वायदा गोल कर दिया! अब केजरीवाल सरकार के तथाकथित 'एक्शन प्लान' से मज़दूरों के मसले ग़ायब थे। यह सच है कि राजनीतिक चेतना की कमी के कारण और कुछ सुधारों के आंशिक लाभप्राप्तकर्ता बनने के कारण दिल्ली के मज़दूरों के एक बड़े हिस्से ने फिर भी केजरीवाल को ही वोट दिया। लेकिन पिछले पाँच वर्षों में केजरीवाल की राजनीति और शब्दावली में मज़दूर वर्ग से जुड़े

बचे-खुचे सन्दर्भ भी ग़ायब हो गये। दिल्ली के पूँजीपति वर्ग के समर्थन को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक था। आम आदमी पार्टी का नेतृत्व यह भी जानता था कि मज़दूरों और ग़रीबों के बीच भाजपा और मोदी बुरी तरह से अलोकप्रिय हो चुके हैं और कांग्रेस उनके बीच अपनी विश्वस्नीयता पहले ही गँवा चुकी है। ऐसे में, यदि वह मज़दूरों के मसलों को अपने एजेण्डा से गायब भी कर दे, तो मज़दूर अधिकांशतः उसी को वोट देंगे। इस स्थिति का फ़ायदा केजरीवाल को मौजूदा चुनावों में भी मिला है।

जहाँ तक धार्मिक अल्पसंख्यकों की बात है, तो मोदी-शाह और संघ परिवार की विजय को रोकने के लिए उनके पास दिल्ली में और कोई विकल्प नहीं था। यह बात भी केजरीवाल और आम आदमी पार्टी का नेतृत्व अच्छी तरह से समझते हैं। वस्तुतः, पिछले चुनावों के समय एक फ़ोन कॉल की रिकॉर्डिंग सामने आयी थी, जिसमें केजरीवाल साफ़ शब्दों में यह कह भी रहा था कि उसे चुनावों में मुसलमानों को टिकट देने की कोई मजबूरी नहीं है। उल्टे मुसलमानों के पास भाजपा का कोई विकल्प दिल्ली में मौजूद नहीं है, इसलिए वे आम आदमी पार्टी को ही वोट देंगे। इसलिए यह भी स्पष्ट है कि केजरीवाल और आम आदमी पार्टी धार्मिक अल्पसंख्यकों के कोई शुभचिन्तक नहीं हैं। वे विकल्पहीनता का लाभ उठा रहे हैं। मौक़ा पड़ने पर यदि 'आप' को अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ कोई कट्टरतावादी (शॉविनिस्ट) अवस्थिति अपनानी पड़ी, तो यक़ीनन वह हिचकेगी नहीं। धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच मौजूद प्रगतिशील, जनवादी और सेक्युलर हिस्से को यह बात समझ लेनी चाहिए और केजरीवाल की जीत पर ताली नहीं पीटनी चाहिए।

केजरीवाल और 'आप' की राजनीति इसी दक्षिणपन्थी अवसरवाद और व्यवहारवाद की विचारधारा पर आधारित है। यह विचारधारा आज के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में 'आप' के मामले में दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद के रूप में सामने आती है। यह लोकरंजकतावाद 'आप' सरकार की कुछ असली और कुछ दिखावटी कल्याणकारी नीतियों में सामने आता है। इन कल्याणकारी नीतियों के एक हिस्से का लाभ आंशिक तौर पर समूची आम जनता को मिलता है। बाक़ी दिखावटी हैं, हालाँकि उन्हें मॉडल के तौर पर पेश करने का काम 'आप' ने कुशलता से किया है। मिसाल के तौर पर, शिक्षा के क्षेत्र में किये गये कुछ कार्य। कुछ स्कूलों को वाक़ई सुविधासम्पन्न बनाया गया है और उन्हें मॉडल स्कूलों के तौर पर बनाने का प्रयास किया गया है। लेकिन अभी भी दिल्ली में दस में से नौ राजकीय स्कूलों की हालत दयनीय है। लेकिन चन्देक मॉडल स्कूलों का 'आप' सरकार ने कुशलता के साथ प्रचार किया है। लोग यह भी भूल गये हैं कि मूल वायदा तो 500 नये स्कूल और 20 नये कॉलेज बनाने का था, जिनमें से एक भी वायदा पूरा नहीं किया गया। कुछ का लाभ आम जनता के एक हिस्से को एक हद तक मिला है, हालाँकि लम्बी दूरी में उन योजनाओं का ख़र्च भी जनता से ही वसूला जायेगा और किसी भी रूप में पूँजीपति वर्ग पर उसका बोझ नहीं पड़ने दिया जायेगा। लोकरंजक नारों, जुमलों और नौटंकियों (मफ़लर, खांसी, आदि) के इस्तेमाल के अलावा इन लोकलुभावन लेकिन मूलतः और मुख्यतः दिखावटी कल्याणकारी नीतियों में 'आम आदमी पार्टी' का लोकरंजकतावाद दिखायी देता है। लेकिन साथ ही 'आप' हिन्दुत्ववादी राजनीति से सीधे बैर मोल लेने, पूँजीपति वर्ग को नाराज़ करने और मज़दूर वर्ग के लिए कोई वास्तविक काम करने से बचती है। यह श्रम क़ानूनों के प्रति उसके रवैये, मज़दूरों से किये गये वायदों के मामले में उसके विश्वासघात, पूँजीपरस्त नीतियाँ बनाने के मामले में उसकी तत्परता और हिन्दू पहचान का दिखावा करने और अन्धराष्ट्रवाद पर भाजपा की ही नाव की सवारी करने की उसी नीति में दिखता है। यह उसका दक्षिणपन्थ है। केजरीवाल सरकार शुरू से ही यूनियन विरोधी रही है, चाहे वह अस्पताल कर्मचारियों की हड़ताल रही हो या फिर आंगनबाड़ीकर्मियों की हड़ताल या फिर औद्योगिक मज़दूरों की हड़तालें और आन्दोलन।

कई मामलों में केजरीवाल की राजनीति यूनान की सिरिज़ा पार्टी की राजनीति की 'मिरर इमेज' है। सिरिज़ा की विचारधारा कई वाम व सामाजिक-जनवादी सुधारवादी विचारधाराओं का घोलमट्ठा थी, जिसे सुधारवादी व सामाजिक-जनवादी अवसरवाद और व्यवहारवाद कहा जा सकता है; 'आप' की विचारधारा कई दक्षिणपन्थी व सेण्टर-राइट (मध्य-दक्षिणपन्थी) विचारधाराओं की खिचड़ी थी, जिस पर भारतीय समाजवादियों और एनजीओपन्थियों की राजनीति का तड़का लगा हुआ था; इसे हम दक्षिणपन्थी और प्रतिक्रियावादी अवसरवाद और व्यवहारवाद कह सकते हैं। सिरिज़ा की वाम सुधारवादी अवसरवाद और व्यवहारवाद की विचारधारा की राजनीतिक अभिव्यक्ति थी वामपन्थी व सामाजिक-जनवादी लोकरंजकतावाद, जबकि 'आप' की दक्षिणपन्थी अवसरवाद और व्यवहारवाद की विचारधारा की राजनीतिक अभिव्यक्ति है उसकी दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति।

■ 'आप' का सामाजिक व राजनीतिक वर्ग आधार

हम वर्ग आधार की दो अर्थों में बात कर सकते हैं : सामाजिक रूप से और राजनीतिक रूप से। 'आप' का राजनीतिक वर्ग आधार दिल्ली में पूँजीपति वर्ग और निम्न-पूँजीपति वर्ग है (जिसमें छोटे उद्यमी और मध्य व उच्च मध्य वर्ग के तमाम संस्तर शामिल हैं)। राजनीतिक रूप से वर्ग आधार होने का अर्थ है कि ये वर्ग अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत हैं और

इस बात को समझकर 'आप' का समर्थन करते हैं कि 'आप' उनके वर्ग हितों की सेवा करती है। इन वर्गों का 'आप' को समर्थन एक विकल्पहीनता की स्थिति में दिया गया नकारात्मक समर्थन या फिर *राजनीतिक* वर्ग चेतना के अभाव में दिया गया समर्थन नहीं है। यह राजनीतिक वर्ग हितों की स्पष्ट समझदारी के आधार पर दिया गया सोचा-समझा राजनीतिक समर्थन है। यह 'आप' का राजनीतिक (व सामाजिक) वर्ग आधार है।

अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निम्नतम संस्तरों के लिए यह बात लागू नहीं होती है। वह अपने ही राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति मूलतः और मुख्यतः अनभिज्ञ होने के कारण 'आप' को वोट देते हैं। पिछले 5 वर्षों में 'आप' ने झुग्गीवासियों, पटरी दुकानदारों, आटो चालकों, ई-रिक्शा चालकों, बेहद निम्न आर्थिक स्तर के जॉबरों, बिचौलियों आदि के लिए यानी अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्ग के निम्नतर संस्तरों के लिए (जिन पर कि लगातार पूर्ण सर्वहाराकरण की तलवार लटकती रहती है) कोई विशेष वास्तविक क़दम नहीं उठाया है, सिवाय प्रशासन द्वारा उत्पीड़न को थोड़ा कम करने के और 'पहुँच के भीतर रहने वाली सरकार' की भ्रामक छवि बनाकर। लेकिन अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत न होने के कारण वे 'आप' की *प्लेबियन* और *सबऑल्टर्न* यानी निम्नवर्गीय शब्दावली और शैली से आकर्षित होकर उसे अपनी पार्टी के रूप में देखते हैं। यह वर्ग सिर्फ़ आर्थिक झटके खाकर अपने राजनीतिक वर्ग हितों के प्रति सचेत नहीं हो सकता है, बल्कि क्रान्तिकारी ताक़तों को इसे सतत् राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण भी देना पड़ेगा। इन दोनों प्रक्रियाओं के ज़रिये ही अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निम्नतम संस्तर एक लम्बी प्रक्रिया में 'आप' के असली वर्ग चरित्र को समझ सकते हैं और क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण की आवश्यकता को समझ सकते हैं। इस प्रकार उपरोक्त वर्ग 'आप' का सामाजिक वर्ग आधार हैं, मगर राजनीतिक वर्ग आधार नहीं।

यह पूरी बात मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से पर लागू होती है। मज़दूर वर्ग के भी राजनीतिक रूप से पिछड़े और मंझोले संस्तर का एक हिस्सा वर्ग चेतना के अभाव का शिकार है और 'आप' की प्लेबियन व सबऑल्टर्न शब्दावली से आकर्षित होकर अपने ही वर्ग हितों के विपरीत जाकर 'आप' को समर्थन और वोट देता है, हालाँकि वह उसे लेकर थोड़ा सशंकित भी रहता है क्योंकि सभी औद्योगिक क्षेत्रों में 'आप' के समर्थकों और वित्तपोषकों के तौर पर वह अपने ही मालिकों, ठेकेदारों, मकान-मालिकों, प्रॉपर्टी डीलरों, दुकानदारों और तरह-तरह के बिचौलियों व दलालों को भी देखता है। लेकिन फिर भी चूंकि उसके पास एक *राजनीतिक* वर्ग चेतना का अभाव होता है, इसलिए वह 'आप' को ही समर्थन देता है। मज़दूर वर्ग का यह हिस्सा भी राजनीतिक रूप से 'आप' का समर्थन आधार नहीं है, बल्कि वर्ग चेतना के अभाव में सामाजिक रूप से 'आप' का वर्ग आधार है।

लेकिन मज़दूर वर्ग के राजनीतिक रूप से उन्नत संस्तर और राजनीतिक रूप से पिछड़े और मंझोले संस्तरों का एक हिस्सा एक हद तक 'आप' के वर्ग चरित्र को पिछले पाँच वर्षों में समझता गया है और जानता है कि उसके वर्ग शत्रुओं का समर्थन 'आप' को हासिल है, बल्कि दिल्ली में उसी समर्थन के आधार पर 'आप' टिकी हुई है। वह यह भी समझता है कि केजरीवाल सरकार ने मज़दूरों के लिए कुछ भी नहीं किया है, उल्टे मज़दूरों से किये गये सारे वायदों से मुकरकर मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात किया है। लेकिन फिर भी वह विकल्पहीनता में 'आप' को दो कारणों से वोट देता है। पहला कारण यह है कि भाजपा को वह सीधे-सीधे धुर मज़दूर-विरोधी, ग़रीब-विरोधी, दमनकारी और तानाशाहाना पूँजीवादी पार्टी के रूप में पहचानता है और जो भी जिस भी राज्य में चुनावों में भाजपा को हराने की कूव्वत रखता है, उसे वोट देता है। दूसरा कारण यह है कि 'आप' की कुछ कल्याणकारी नीतियों का थोड़ा-बहुत लाभ उसे भी मिलता है या मिलता प्रतीत होता है। इसलिए एक 'कम बुरे' विकल्प को चुनने के तौर पर वह 'आप' को चुनावों में समर्थन देता है। सर्वहारा वर्ग इस रूप में महज़ सामाजिक रूप से चुनावों में 'आप' का वर्ग आधार है, हालाँकि वह राजनीतिक वर्ग हितों की अपनी समझदारी के एक हद तक विकसित होने के कारण 'आप' के चरित्र को समझता भी है। क्रान्तिकारी ताक़तों को सर्वहारा वर्ग के बीच राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और राजनीतिक कार्य के ज़रिये एक अलग क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की आवश्यकता की ज़रूरत का सतत् प्रचार करना चाहिए। उन्हें बताना होगा कि जब तक पूँजीवादी चुनावों के दायरे में मज़दूर वर्ग की अपनी स्वतंत्र राजनीतिक आवाज़ और पक्ष नहीं खड़ा होगा, तब तक मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग की इस या उस पार्टी का पिछलग्गू बनने को मजबूर होगा।

क्रान्तिकारी ताक़तों के लिए सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग और टटपुँजिया वर्गों के निम्न संस्तरों को राजनीतिक रूप से जीतना अपरिहार्य है। यह न सिर्फ़ दिल्ली में 'आप' और भाजपा को राजनीतिक चुनौती देने के लिए अनिवार्य है, बल्कि यह बाक़ी देश में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की ताक़त को आम तौर पर राजनीतिक चुनौती देने के लिए भी ज़रूरी है।

'आप' के प्रति भारतीय उदारवादियों (लिबरल्स) का रवैया

उदारवादियों की समस्या यह होती है कि वह हमेशा 'कम बुरे' की तलाश में रहते हैं। अटल बिहारी वाजपेयी के बाद जब भाजपा का नेतृत्व ज़्यादा हार्डलाइनर आडवाणी के हाथों में आया, तो ये लोग वाजपेयी की 'कवि हृदयता' को लेकर

भर आये थे और आडवाणी को कोस रहे थे। ये भूल गये थे कि वाजपेयी की बाबरी मस्जिद को गिराने की प्रक्रिया में क्या भूमिका थी। जब आडवाणी को मोदी-शाह की और भी ज़्यादा हार्डलाइनर जोड़ी ने किनारे लगा दिया तो उन्हें आडवाणी अच्छे लगने लगे और वे उनके प्रति नॉस्टैल्जिक हो गये। यह पूरा तर्क ही न सिर्फ़ मूर्खतापूर्ण है, बल्कि आत्मघाती भी है।

'आप' की जीत के बाद भी हमारे लिबरल्स यही कर रहे हैं। वह उन्मादोन्मत्त हो गये हैं। फ़ासीवाद की हार के नगाड़े बजाये जा रहे हैं। ऐसा लग रहा है कि हमें इस दानव से आख़िरी तौर पर छुटकारा मिल गया हो। अरविन्द केजरीवाल को हीरो बनाकर पेश करने वाले मीम्स बनाये जा रहे हैं। भाजपा की हार पर ख़ुशी हमें भी हो रही है और ऐसा होना किसी भी जनवादी और प्रगतिशील व्यक्ति के लिए लाज़िमी है। लेकिन इस हर्षातिरेक में इस क़दर मस्त नहीं हो जाना चाहिए कि यह सोचने लगें कि दिल्ली की जनता ने साम्प्रदायिकता और अन्धराष्ट्रवाद को नकार दिया है। क्योंकि आम आदमी पार्टी को वोट करने वाली जनता का ठीक-ठाक हिस्सा ऐसा है, जिसकी शाहीन बाग़, सीएए-एनआरसी, कश्मीर के राष्ट्रीय दमन पर वही पोज़ीशन है जो कि भाजपा की है। इसका कारण स्पष्ट है : क्योंकि उनके चहेते केजरीवाल की भी इन प्रश्नों पर वही पोज़ीशन है, जो कि भाजपा की है। ऐसे में, आम आदमी पार्टी की जीत को दिल्ली की जनता द्वारा साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को नकार दिये जाने के रूप में व्याख्यायित करना एक भयंकर भूल होगी, राजनीतिक नादानी होगी और वह भी आत्मघाती क़िस्म की। क्योंकि यह समझना बहुत ज़रूरी है कि 'आप' की विचारधारा और राजनीति अन्तिम विश्लेषण में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद की मुख़ालफ़त नहीं करती है, और विशिष्ट राजनीतिक सन्दर्भ में यह हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद को मज़बूत करने में योगदान भी कर सकती है। यह भूलना नहीं चाहिए कि केजरीवाल और 'आप' का उदय ही एक दक्षिणपन्थी राष्ट्रवादी आन्दोलन ('इण्डिया अगेंस्ट करप्शन') से हुआ था, जो दिखाने के लिए भ्रष्टाचार के सवाल पर था, लेकिन जिसका असली मक़सद था साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की संघ परिवार की राजनीति के लिए पहले एक टटपुँजिया राष्ट्रवादी कंसेंसस तैयार करना, जिसे बाद में एक बारीक हाथ की सफ़ाई के ज़रिये 'कम्युनल कंसेसस' में तब्दील किया जा सके। वास्तव में, संघ परिवार ने यह काम सफलतापूर्वक किया भी। इसने भी मोदी के उभार और 2014 में उसकी जीत में एक अहम भूमिका निभायी थी। अगर आपको अण्णा हज़ारे के समूचे आन्दोलन का प्रतीकवाद याद हो, तो आप आराम से समझ सकते हैं कि यह आन्दोलन मूलतः और मुख्यतः स्वतःस्फूर्त नहीं था, बल्कि इसको खड़ा करने में संघ परिवार की केन्द्रीय भूमिका थी। चूंकि जनता 2012-13 से ही आर्थिक संकट, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, स्त्री-विरोधी अपराधों आदि के कारण एक राजनीतिक मोहभंग से गुज़र रही थी, इसलिए उसके आकारहीन, आकृतिहीन और अन्धे क़िस्म के राजनीतिक ग़ुस्से, असन्तोष और प्रतिक्रिया को अण्णा हज़ारे और केजरीवाल के आन्दोलन ने एक दक्षिणपन्थी, राष्ट्रवादी और लोकरंजक अभिव्यक्ति दी, जिसने लम्बी दूरी में, मोदी के उभार की ज़मीन तैयार करने में एक अहम भूमिका निभायी। अरविन्द केजरीवाल इस पूरी प्रक्रिया में महज़ मोहरा रहा हो, इसकी गुंजाइश कम है। निश्चित तौर पर, संघ की पूरे आन्दोलन में भूमिका के विषय में उसे पता था। लेकिन उसकी अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा भी थी, जो कि अन्ततः 'आप' के गठन में अभिव्यक्त हुई। वास्तविक इतिहास में चीज़ें इसी द्वन्द्वात्मक रूप में घटित होती हैं। केजरीवाल के इस इतिहास को भी लिबरल्स अपने 'ट्रेडमार्क' लघुकालिक स्मृति के कारण भूल गये हैं।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि आम आदमी पार्टी की जीत किसी भी रूप में सेक्युलरिज़्म या जनवाद की विजय नहीं है। यह एक दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति की एक विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में विजय है, जो कि आज के सन्धि-बिन्दु पर एक राज्य में लघुकालिक राजनीतिक अर्थों में चुनावी मैदान में देश की फ़ासीवादी पार्टी भाजपा के ख़िलाफ़ खड़ी है। स्वयं इस लोकरंजकतावादी राजनीति में फ़ासीवादी तत्व हैं, हालाँकि इन तत्वों के पूर्ण रूप से फलने-फूलने की उम्मीद कम ही है। इसका कारण यह है कि समूचा राजनीतिक परिदृश्य द्वन्द्वात्मक रूप से विकसित होता है और भाजपा और संघ परिवार की फ़ासीवादी राजनीति और संगठन के जीवित रहते, इसकी उम्मीद ज़्यादा है कि आम आदमी पार्टी भ्रूण रूप में फ़ासीवादी तत्वों के साथ महज़ दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद के दायरे में ही बनी रहेगी। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि कल किसी अन्य सन्धिबिन्दु पर 'आप' की राजनीति भाजपा के साथ खड़ी भी दिख सकती है। अगर कल ऐसा होता है, तो समझदार लोगों को इस पर मुँह नहीं बाना चाहिए। मुँह बाने का काम हमें मूर्ख लिबरल्स पर छोड़ देना चाहिए! वैज्ञानिक विश्लेषण से इस सम्भावना की सम्भाव्यता को स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है। लेकिन टटपुँजिया उदारवादी विचारधारा रखने वाले लिबरल्स से ऐसी उम्मीद करना व्यर्थ है कि वे इसे समझें। जब प्रतिक्रियावादी लिबरल्स को गाली देते हैं, तो वे शुक्र मनाते हैं कि 'चलो, पीटा नहीं!' जब प्रतिक्रियावादी पीट देते हैं, तो वे कहते हैं, 'शुक्र है जान से नहीं मारा!' जब प्रतिक्रियावादी जान से मार देते हैं, तो ज़िन्दा बचे लिबरल्स कुछ पुराने प्रतिक्रियावादियों को भावुक होकर याद करते हैं जो 'इतने प्रतिक्रियावादी नहीं थे कि जान से मार दें!' यह लिबरल्स के सोचने का तरीक़ा है। अरविन्द केजरीवाल ऐसे लिबरल्स का पोस्टर बॉय बना हुआ है तो इसमें कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए।

अन्त में...

अगले पाँच वर्षों के लिए दिल्ली में भाजपा कुछ अर्थों में राजनीतिक तौर पर हाशिये पर रहेगी, यह तात्कालिक तौर पर एक राहत और ख़ुशी की बात है। मगर राहत की आहों-कराहों में क्रान्तिकारी ताक़तों, प्रगतिशील, जनवादी और सेक्युलर लोगों को ज़्यादा मगन नहीं हो जाना चाहिए। यह आत्मघाती होगा। उल्टे हमें निम्न काम करने होंगे : पहला, केजरीवाल सरकार को मजबूर किया जाना चाहिए कि वह चुनाव घोषणापत्र में किये गये सारे वायदों को पूरा करे; दूसरा, केजरीवाल सरकार को मजबूर किया जाना चाहिए कि वह एक रोज़गार गारण्टी क़ानून दिल्ली राज्य स्तर पर पारित करे, क्योंकि रोज़गार राज्य सूची में आता है और दिल्ली सरकार के पास यह अधिकार है; तीसरा, हमें माँग करनी चाहिए कि केजरीवाल सरकार सीएए-एनआरसी-एनपीआर पर स्पष्ट स्टैण्ड ले और महाराष्ट्र, केरल, पंजाब के समान दिल्ली विधानसभा में इसके ख़िलाफ़ प्रस्ताव पारित करे; चौथा, हमें माँग करनी चाहिए कि सभी श्रम क़ानूनों का सख़्ती से पालन हो, इसके लिए श्रम विभाग में भर्तियाँ की जायें और उसे चुस्त-दुरुस्त बनाया जाये; पाँचवाँ, हमें माँग करनी चाहिए कि दिल्ली राज्य सरकार के मातहत आने वाले सभी स्कूलों में धार्मिक प्रार्थनाएँ, धार्मिक सभाएँ, धार्मिक प्रतीक आदि पूरी तरह से वर्जित हों और उन्हें पूर्ण रूप से सच्चे मायने में सेक्युलर बनाया जाये; छठवाँ, दिल्ली राज्य सरकार के मातहत आने वाले स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा को पूर्णतः निशुल्क बनाया जाये; सातवाँ, दिल्ली राज्य सरकार मॉब लिंचिंग व साम्प्रदायिक राजनीति पर पूर्ण रोक लगाने के लिए सख़्त क़ानूनों को पारित करे जिसमें कि कठोर दण्ड का प्रावधान हो; आठवाँ, हमें स्वास्थ्य का बीमा नहीं बल्कि निशुल्क स्वास्थ्य देखरेख की व्यवस्था चाहिए, इसलिए दिल्ली सरकार के मातहत आने वाले सभी अस्पतालों में चिकित्सा पूर्ण रूप से निशुल्क हो; नौवाँ, मज़दूरों हेतु सरकारी आवास के प्रोजेक्ट्स बनाये जाने की माँग उठायी जानी चाहिए। इसी प्रकार अन्य मज़दूर वर्गीय और मेहनतकश जनसमुदायों की माँगों की पहचान की जानी चाहिए और 'आप' सरकार से इन माँगों पर संघर्ष किया जाना चाहिए। इन संघर्षों की प्रक्रिया में ही 'आप' की आम आदमी वाली नौटंकी का पर्दाफ़ाश होगा और मेहनतकश जनता के विभिन्न वर्ग उसके असली वर्ग चरित्र को भी समझेंगे।

ये महज़ कुछ तात्कालिक कार्यभार हैं, कोई समूचा राजनीतिक कार्यक्रम नहीं। लेकिन हमें लगता है कि इन क़दमों से शुरुआत तो की ही जानी चाहिए, ताकि मज़दूर वर्ग को एक स्वतंत्र राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित किया जा सके और उसे व्यापक मेहनतकश अवाम के राजनीतिक नेतृत्व के रूप में तैयार किया जा सके।

●

कोरोना वायरस : नवउदारवादी भूमण्डलीकरण...

(पेज 11 से जारी)

बाद उनकी माँग फिर से गिर जाती है। ग़ौरतलब है कि वर्ष 2003 में सार्स नामक बीमारी के फैलने के बाद भी फ़्लू की रोकथाम के लिए दवाओं पर शोध करने की बात चली थी, लेकिन बाद में किसी भी फ़ार्मा कम्पनी ने इस शोध की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर नहीं ली। अगर ऐसा शोध जारी रहता तो मुमकिन था कि अब तक कोरोना वायरस का टीका या एण्टीवायरल दवा मौजूद होती।

भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में हाल के दशकों में जीडीपी और स्वास्थ्य सुविधाओं पर होने वाले ख़र्च के अनुपात में या तो लगातार कमी आती रही है या फिर कोई विचारणीय वृद्धि नहीं हुई है। इस वजह से कोरोना जैसी महामारी से निपटने के लिए ये देश तैयार ही नहीं हैं। सरकार द्वारा लोगों को इस बीमारी के बारे में सही ढंग से शिक्षित न कर पाने की वजह से जहाँ पहले इसको ख़तरा मानने से ही इन्कार किया जाता था वहीं अब एक पैनिक की स्थिति बनती जा रही है। इस स्थिति का लाभ उठाकर जहाँ सैनिटाइज़र, फ़ेसमास्क, एण्टीबायोटिक साबुन और टिश्यू पेपर बेचकर बेहिसाब मुनाफ़ा पीटा जा रहा है वहीं भाँति-भाँति के नीमहकीम कोरोना वायरस से निपटने के लिए रामबाण नुस्ख़े बताकर जनता को बरगलाने का काम कर रहे हैं। बीमा कम्पनियों ने भी इस महामारी का लाभ उठाकर लोगों को डराते हुए अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की कोशिशें तेज़ कर दी हैं।

इस महामारी से निकलने वाला सबक़

कोरोना महामारी ने एक बार फिर यह साबित कर दिया है कि विज्ञान की चमत्कारिक तरक़्क़ी के बावजूद पूँजीवाद आज समाज की बीमारियों को दूर करने की बजाय नयी बीमारियों के फैलने की ज़मीन पैदा कर रहा है। ऐसी महामारियों से निपटने के लिए भी पूँजीवाद को नष्ट करके समाजवादी समाज का निर्माण आज मनुष्यता की ज़रूरत बन गया है। समाजवादी समाज में सार्वजनिक और निशुल्क स्वास्थ्य सुविधाओं की बदौलत कोरोना जैसी महामारियों को फैलने से आसानी से रोका जा सकता है। साथ ही दवाओं के शोध और अनुसन्धान के लिए संसाधनों की कमी आड़े नहीं आयेगी क्योंकि उसका मक़सद मुनाफ़ा कमाना नहीं होगा। परन्तु समाजवादी समाज का निर्माण हमारा दूरगामी लक्ष्य है। इस महामारी की स्थिति में हमारा तात्कालिक लक्ष्य पूँजीवाद की चौहद्दी के भीतर सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को दुरुस्त करवाना, सार्वभौमिक स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार का दर्जा दिलाना और दवाओं के निर्माण के क्षेत्र को मुनाफ़े की दुनिया से अलग कराना होना चाहिए।

●

विमर्श

हमारे आन्दोलन को संविधान-रक्षा के नारे और स्वतःस्फूर्ततावाद से आगे, बहुत आगे, जाने की ज़रूरत क्यों है?

● अभिनव

यह बात बार-बार दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि 1970 के दशक के बाद के प्रचण्ड जनान्दोलन के बाद नागरिकता संशोधन क़ानून, राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर, व राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के ख़िलाफ़ देश भर में खड़ा हुआ आन्दोलन सम्भवतः सबसे बड़ा आन्दोलन है। अगर अभी इस पहलू को छोड़ दें कि इन दोनों ही आन्दोलनों में क्रान्तिकारी नेतृत्व की समस्या का समाधान नहीं हो सका था, तो भी यह स्पष्ट है कि क्रान्तिकारी राजनीतिक नेतृत्व के उभरने की सूरत में इन आन्दोलन में ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी जनवादी और प्रगतिशील सम्भावना सम्पन्नता होगी। 1970 के दशक के आन्दोलन में एक सशक्त क्रान्तिकारी धारा के मौजूद होने के बावजूद, क्रान्तिकारी शक्तियाँ ग़लत कार्यक्रम, रणनीति और आम रणकौशल के कारण आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथों में नहीं ले सकी थीं और नेतृत्व और पहलक़दमी जयप्रकाश नारायण के हाथों में चली गयी, जिसने इस जनउभार में अभिव्यक्त हो रहे क्रान्तिकारी ग़ुस्से और जनअसन्तोष को मौजूदा व्यवस्था के दायरे के भीतर ही सीमित कर दिया, हालाँकि काफ़ी आमूलगामी जुमलों का शोर पैदा करते हुए। यानी वही काम जो प्रेशर कुकर में सेफ़्टी वॉल्व करता है। बहरहाल, चूंकि मौजूदा आन्दोलन अभी जारी है, इसलिए ऐसे नेतृत्व के उभरने की उम्मीदें फ़िलहाल कम होने के बावजूद पूरी तरह से ख़त्म नहीं मानी जा सकतीं।

लेकिन यदि ऐसा कोई नेतृत्व इस बार नहीं भी उभर पाता है, तो ऐसे आन्दोलन हमेशा ही जनसमुदायों के लिए सकारात्मक और नकारात्मक राजनीतिक शिक्षा की एक पाठशाला साबित होते हैं। जनता की सामूहिक स्मृतियों में ऐसे आन्दोलनों की अस्पष्ट छवियाँ, इसके सबक़ और इसकी यादें कहीं न कहीं मौजूद रहती हैं और भावी आन्दोलनों में जनता को शिक्षित करने की एक ज़मीन बनती हैं। इस रूप में मौजूदा आन्दोलन पहले ही एक ऐसे मुकाम पर पहुँच चुका है, जहाँ यह जनस्मृतियों की चट्टान में अमिट रूप में उकेरा जा चुका है। **इन अर्थों में हम काफ़ी-कुछ हासिल कर चुके हैं। लेकिन जो हमें हासिल करना है, उसकी तुलना में जो हासिल हुआ है उसे ज़्यादा से ज़्यादा मामूली ही कहा जा सकता है।** इसलिए हमें पहले इस पर बात करनी चाहिए कि इस हासिल को ज़्यादा से ज़्यादा कैसे बनाया जा सकता है। यहाँ हम इसी पर चर्चा करेंगे।

हमने इस आन्दोलन के मातहत सीएए-एनआरसी-एनपीआर की असलियत के बारे में हिन्दू जनसमुदायों, विशेषकर मेहनतकश व टटपुँजिया जनसमुदायों में, प्रचार की आवश्यकता पर अन्यत्र बात रखते हुए पहले ही इंगित किया था कि यदि यह किया जाता है तो संघ परिवार इस आन्दोलन का मुक़ाबला नहीं कर पायेगा। कारण यह कि वह इस आन्दोलन को "मुसलमानों का आन्दोलन", "पाकिस्तानपरस्त लोगों का आन्दोलन" आदि के तौर पर व्यापक ग़ैर-मुसलमान आबादी में प्रचारित करने में नाकामयाब हो जायेगा। इसलिए सबसे बड़ी ज़रूरत है कि इस आन्दोलन में सक्रिय राजनीतिक ताक़तें पहले से सहमत लोगों को सहमत करने और उनके जुटानों के आधार पर आन्दोलन को विजयोन्मुख के दावे करने की बजाय, या 24 घण्टा धरना

प्रदर्शनों के 30, 50 या 70 दिन जारी रहने के जश्नों से आगे जायें और **वॉलण्टियरों की टीमें गठित करके, सरल भाषा में सीएए-एनआरसी की असलियत बताने वाले पर्चों को लेकर शहरों व गाँवों की गली-गली में घर-घर जाकर प्रचार करें। लेकिन यह भी काफ़ी नहीं है।** इससे ज़्यादा से ज़्यादा यह सफलता हासिल होगी कि एनपीआर का जनबहिष्कार ज़्यादा कामयाब होगा और फ़िलहाल एनआरसी करने की भाजपा सरकार की चाल नाकामयाब हो जाये। इसके साथ आन्दोलनकारी घरों को लौट जायेंगे। लेकिन कल भाजपा सरकार फिर से कोई नया फ़ासीवादी फ़रमान या क़ानून लेकर आयेगी। यह सरकार फ़ासीवादियों की है। वे फिर से जनता के *पैस्सिव* होने का इन्तज़ार करेंगे। और फिर अपनी नयी चाल खेलेंगे। इसलिए अगर हम चाहते हैं कि मौजूदा आन्दोलन को एक आम फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन में तब्दील करके मोदी-शाह की सत्ता के पतन तक ले जायें और फिर उससे भी आगे, तो फिर हमें इस आन्दोलन की **दो राजनीतिक कमियों** को दूर करना होगा।

आन्दोलन में संगठन, संरचना और राजनीतिक नेतृत्व का अभाव, उसकी आवश्यकता और उसके प्रति सचेतन प्रतिरोध की अराजकतावादी भावना

पहली राजनीतिक कमी है इस आन्दोलन में एक ऐसी प्रवृत्ति का मौजूद होना जो कि सचेतन तौर पर किसी भी प्रकार संगठन, सुनियोजित योजना और संरचना के विकसित होने का विरोध करती है। उसका मानना है कि जनता की स्वत:स्फूर्त रचनात्मकता ही काफ़ी है। जो भी लोग इस आन्दोलन में शुरू से लगातार मौजूद रहे हैं वे जानते हैं कि ये काफ़ी नहीं है। लोगों को स्पष्ट राजनीतिक *विज़न* की और राजनीतिक नेतृत्व की ज़रूरत है और वे इसकी माँग भी कर रहे हैं। उन्हें इस बात की ज़रूरत महसूस हो रही है कि आन्दोलन में एक राजनीतिक नेतृत्व को यह स्पष्ट करना चाहिए कि आगे क्या करना है। आन्दोलन में के उन्नत तत्व स्वयं ही पूछ रहे हैं कि क्या सिर्फ़ एक जगह बैठे रहने से काम चल जायेगा? या फिर आगे की कोई स्पष्ट कार्ययोजना होनी चाहिए? यह समझना ज़रूरी है कि हम जिस ताक़त से टकरा रहे हैं वह एक काडर-आधारित अनुशासित फ़ासीवादी संगठन यानी संघ परिवार है। यह फ़ासीवादी संगठन आज सत्ता में है। जब यह सत्ता में नहीं भी रहता तो यह मज़दूरों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों के विरुद्ध लम्बी योजना के साथ संगठित रूप से काम करता है। **क्या ऐसी ताक़त को *सिर्फ़* जनता की रचनात्मक स्वत:स्फूर्तता के आधार पर हराया जा सकता है?** यह असम्भव है। कोई भी तार्किक और व्यावहारिक व्यक्ति इस बात को समझ सकता है।

अगर मौजूदा आन्दोलन के समक्ष कुछ समय के लिए मोदी-शाह की फ़ासीवादी सरकार को पीछे भी हटना पड़ता है, तो भी जनान्दोलन के समाप्त होते ही और जनता के *राजनीतिक रूप से* सापेक्षिक रूप से निष्क्रिय होते ही अपनी अगली चाल की तैयारी शुरू कर देंगे। **क्योंकि ये फ़ासीवादी ताक़तें स्वत:स्फूर्तता के भरोसे नहीं हैं, बल्कि सचेतन तौर पर और सक्रियता के साथ एक फ़ासीवादी एजेण्डा पर काम कर रहे हैं। वे अपनी जीत का जश्न मनाने या हार का मातम मनाने में ज़्यादा वक़्त ज़ाया नहीं करते हैं।** हमारे वे युवा साथी जो कि मानते हैं कि संगठन (ऑर्गनाइज़ेशन) कोई दानवी शक्ति है, जो कि जनता पर ही तानाशाही करने लगने के लिए बाध्य है और इसलिए जो कि हर सूरत में जनता की स्वत:स्फूर्त रचनात्मकता को मार देती है, तो उन्हें समझना चाहिए कि यह सामान्य संगठन-विरोध, संरचना-विरोध और प्राधिकार-विरोध वास्तव में आन्दोलन के लिए नुक़सानदेह है।

इसका बुनियादी कारण यह है कि जब तक वर्ग समाज मौजूद है तब तक जनता राजनीतिक व मानसिक तौर पर भी अलग-अलग संस्तरों में बँटी रहेगी। जब तक मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच अन्तर मौजूद है तब तक जनता का राजनीतिक व मानसिक तौर पर कई संस्तरों में बँटा होना अपने आपको नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व लेने वालों में विभाजन के रूप में अनिवार्य रूप में अभिव्यक्त करेगा। यह किसी भी व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र है। **वर्गविहीन समाज में भी नेतृत्व करने और नेतृत्व प्राप्त करने में अन्तर होता है, लेकिन तब यह विभाजन अनमनीय नहीं रह जाता है और दूसरा नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व प्राप्त करने वालों की भूमिकाओं में एक हीन या प्रतिष्ठित नहीं मानी जाती है और इस रूप में इन भूमिकाओं के साथ जुड़े सत्ता-मूल्य समाप्त हो जाते हैं।** आपकी कितनी भी सदिच्छा हो लेकिन ऐसे वर्ग विहीन समाज के अस्तित्व में आने और मानसिक और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर के समाप्त होने से पहले आप मनमुआफ़िक़ तरीक़े से इस अन्तर को समाप्त नहीं कर सकते हैं। ऐसा सोचना या प्रयास करना यह मनोगतवाद (subjectivism) है।

कैम्पसों में उत्तराधुनिकतावाद और अराजकतावाद के अकादमिया में प्रभाव के कारण बहुत से ईमानदार युवा साथी ऐसी सदिच्छा लेकर इस आन्दोलन में आये हैं। उनमें से भी समझदार साथी कहीं न कहीं इस बात की ज़रूरत को महसूस कर रहे हैं कि एक स्पष्ट कार्यक्रम होना चाहिए और ऐसे स्पष्ट कार्यक्रम के निर्माण और उसकी स्वीकार्यता के लिए एक राजनीतिक नेतृत्व का विकास करना अनिवार्य है। लेकिन फ़ूकोवादी उत्तराधुनिकतावाद और अराजकतावाद को

प्रगतिशील और विद्रोही मानने की भूल करने वाले (क्योंकि जुमलों में यह काफ़ी आमूलगामी लगता है!) तमाम युवा साथी अभी भी अपनी सामाजिक प्रगतिशीलता के बावजूद इस प्रतिक्रियावादी विचारधारा के प्रभाव में हैं, जिसका काम ही जनता से अभिकरण को छीन लेना है। ये साथी शानदार युवा हैं और हमारे आन्दोलन के भावी अगुवा तत्व हैं। इन्हें जितनी जल्दी हो सके इस विषैली विचारधारा से मुक्त हो जाना चाहिए और समाज के गति के विज्ञान से ख़ुद को वाक़िफ़ कराना चाहिए।

"संविधान बचाओ" का नारा और संविधानवाद हमारे आन्दोलन के लिए घातक है

अब आते हैं उस प्रमुख समस्या पर जिसका इस आन्दोलन में समाधान करना ही होगा। यह समस्या है संविधानवाद और अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद के असर की समस्या जो कि आन्दोलन के तात्कालिक और दूरगामी हितों के साथ अन्तरविरोध रखता है। बहुत-से लोग इस अन्तरविरोध की बात सुनकर नाराज़ हो जायेंगे और हमें जातिवादी, ब्राह्मणवादी और सवर्णवादी जैसी उपाधियों से नवाज़ देंगे। उनसे भी हम कहेंगे कि इन पूर्वाग्रहों और भावुकता को किनारे रखकर एक बार हमारी बात सुनें और यह समझें कि राजनीतिक आलोचना और गाली देने में फ़र्क़ होता है। यदि तथ्यों और तर्कों के आधार में हमारी बात में कोई कमी है, तो निश्चित तौर पर आलोचनाओं का स्वागत है। अम्बेडकर द्वारा बनाये गये संविधान या अम्बेडकर की राजनीतिक विचारधारा (ड्यूईवादी व्यवहारवाद) की आलोचना करके कोई जातिवादी या ब्राहम्णवादी नहीं हो जाता है।

कुछ लोगों को शायद हमारी बातों पर ताज्जुब होगा क्योंकि उन्हें हमारे संविधान के "महान जनवादी", "महान सेक्युलर" चरित्र के बारे में इतना कुछ बचपन से लेकर आज तक बताया गया है कि उन्हें इस बात पर यक़ीन ही नहीं होगा कि न तो हमारे संविधान और समूची विधिक व्यवस्था का जनवाद बहुत मज़बूत बुनियाद पर है और न ही इसके सेक्युलर मूल्य वास्तव में सेक्युलर मूल्य माने जा सकते हैं। लेकिन किसी को अच्छा लगे या बुरा, सच यही है और इस लेख में यह बात प्रमाण के साथ दिखलायेंगे।

हम सभी जानते हैं कि मौजूदा आन्दोलन में हमारे विरोध प्रदर्शनों को कुचलने के लिए जिस धारा का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया गया है वह है आईपीसी की धारा 144। भारतीय दण्ड संहिता जिसे कि 1860 के दशक में अंग्रेज़ों ने बनाया और लागू किया था, दुनिया की सबसे पुरानी, सबसे ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना दण्ड संहिता है। कोई भी धारा 144, धारा 149, राजद्रोह के क़ानून (धारा 124 ए), धारा 295ए पढ़कर इसे समझ सकता है। **आप यदि इन धाराओं को पढ़ें तो आपके दिमाग़ में पहला सवाल यह आयेगा कि एक लोकतंत्र होने का दावा करने वाले देश की दण्ड संहिता में ऐसी धाराएँ कैसे हो सकती हैं? आज़ादी के बाद क़ानून मंत्रालय ने भारतीय दण्ड संहिता को लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया। ग़ौरतलब है कि पहले क़ानून मंत्री डॉ. अम्बेडकर थे।** वास्तव में, आईपीसी का पूरा आठवाँ अध्याय ही सभी जनवादी और नागरिक अधिकारों को कुचलने के रास्ते और तरकीबें सरकारों को बताता है, और उनके क़ानूनी अधिकार भी सरकारों को देता है। हम आग्रह करेंगे कि सभी पाठक एक बार इस अध्याय को पढ़ लें जिसका नाम है सार्वजनिक शान्ति के ख़िलाफ़ अपराध। बताने की ज़रूरत नहीं है कि सरकार हर उस चीज़ को सार्वजनिक अशान्ति का नाम देती है, जिससे कि *उसे* डर लगता है।

आप कहेंगे संविधान में धारा 19 में स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार दिया गया है। **लेकिन 1951 में ही जनता के इस अधिकार को कुचलने के लिए धारा 19बी जोड़ दी गयी जिसके अनुसार इस अधिकार पर "तर्कसंगत" सीमाएँ होंगी। कौन-सी सीमाएँ तर्कसंगत होंगी, ये सरकार और न्यायपालिका तय करेगी!** ज़ाहिर है, सरकार और व्यवस्था हमेशा ही अपने ख़िलाफ़ होने वाली अभिव्यक्ति को "अतर्कसंगत" कह सकती है। **वैसे आपको पता है कि यह संशोधन करने वाली कैबीनेट कमेटी में यह रोक लगाने का प्रावधान का प्रस्ताव किसने रखा था? डॉ. अम्बेडकर ने।** इसका तर्क यह था कि यह लोगों को धार्मिक रूप से भड़काऊ व साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाने वाले भाषण देने से रोकने के लिए था। यह पूरा तर्क बेकार है क्योंकि इसके लिए क़ायदे से सरकार को संविधान में संशोधन करके इस विषय पर अलग से एक धारा जोड़नी चाहिए थी। संविधान में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के अधिकार वाली धारा को संशोधित करके उसे बाशर्त क़ानून बनाने का इस्तेमाल हमेशा जनता के ख़िलाफ़ ही होना था, ये सभी जानते थे। इसका सबूत यह है कि पिछले 72 वर्षों में इसका इस्तेमाल हमेशा अपने हक़ों के लिए लड़ रही जनता के ख़िलाफ़ ही हुआ है। क्या आपको याद है कि कभी इसका इस्तेमाल वास्तव में उन लोगों के ख़िलाफ़ हुआ है जो कि साम्प्रदायिक ज़हर घोलने का काम करते हैं जैसे कि योगी आदित्यनाथ, आडवाणी, वाजपेयी, तोगड़िया, प्रवेश वर्मा, कपिल मिश्रा? नहीं! क्या आप ऐसे कुछ उदाहरण दे सकते हैं जब इन प्रावधानों का इस्तेमाल क्रान्तिकारियों, जनान्दोलन के नेताओं, आदि के ख़िलाफ़ हुआ हो? यदि आप अख़बार पढ़ते रहे हैं और समाचार सुनते रहे हैं तो पिछले 15 वर्षों से ही आप ऐसे दर्जनों उदाहरण दे सकते हैं। इसलिए अभिव्यक्ति के अधिकार से खिलवाड़ के बिना ही धार्मिक व साम्प्रदायिक

वैमनस्य फैलाने वाली राजनीतिक शक्तियों पर रोक लगाना सम्भव था। लेकिन जानबूझकर अभिव्यक्ति के अधिकार को ही तथाकथित "तर्कसंगत सीमाओं" में रख दिया गया, जिन्हें परिभाषित करने का उत्तरदायित्व सरकारों का होगा! इससे अच्छा तो सीधे ही लिख देना था कि सरकार का विरोध करने का हक़ केवल उसी हद तक होगा जितना कि सरकारों को बर्दाश्त हो! इससे हमारा संविधान ज़्यादा ईमानदार भी बन गया होता और इतना भारी-भरकम भी नहीं होता, क्योंकि जनता के हर अधिकार की धारा के साथ आपको वह अधिकार छीनने वाली धारा भी जोड़नी हो, तो संविधान लम्बा तो हो ही जायेगा।

संशोधनों की बात छोड़ भी दी जाये, तो हमारे मूल संविधान में ही ऐसे प्रावधान मौजूद हैं, जो कि सरकार को यह ताक़त देते हैं कि वह तमाम प्रकार के सरकार के जनविरोध व प्रतिरोध को "आन्तरिक सुरक्षा" के लिए ख़तरा क़रार दे दे और उसे ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दे। **याद रहे कि आपातकाल के प्रावधान हमारे संविधान में मौजूद थे और इन्दिरा गांधी को आपातकाल लगाने के लिए किसी संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। आपातकाल के बाद 44वाँ संशोधन किया गया था कि आपातकाल लगाने के कारण के तौर पर सरकार को "आन्तरिक अशान्ति" की बजाय युद्ध या विद्रोह की स्थिति को दिखलाना पड़ेगा या यह साबित करना पड़ेगा कि आन्तरिक विद्रोह का ख़तरा मौजूद है! हम जानते हैं कि यह भी कोई मुश्किल काम नहीं है। संविधान के भाग अट्ठारह में वे सभी ग़ैर-जनवादी प्रावधान मौजूद हैं, जो कि सभी जनवादी अधिकारों को छीनने की शक्ति सरकार को देते हैं।** आइए ऐसे कुछ प्रावधानों को देखते हैं।

धारा 352 के अनुसार, कैबीनेट द्वारा लिखित रूप में अनुशंसा किये जाने पर राष्ट्रपति आपातकाल लागू कर सकता है। यह आपातकाल पूरे देश पर या किन्हीं राज्य/राज्यों पर लागू किया जा सकता है। संसद में सरकार हर तीस दिन पर इस आपातकाल को जारी रखने का निर्णय पारित करवा सकती है।

धारा 353 के अनुसार, एक बार आपातकाल लागू हो जाने के बाद राज्यों के सारे संघीय संवैधानिक अधिकार रद्द हो जायेंगे। संघ अथवा राज्यों के सरकारी अधिकारियों के लिए केन्द्र सरकार आदेश देने में सक्षम होगी और उसके आदेश बाध्यताकारी होंगे। धारा 355 के अनुसार, केन्द्र सरकार बाह्य हमले या आन्तरिक अशान्ति के कारण सरकार की रक्षा करेगी।

आपातकाल लागू होने पर सभी भारतीय नागरिकों के सभी मूलभूत अधिकार रद्द हो जायेंगे। आपातकाल 'आन्तरिक अशान्ति' या 'आन्तरिक विद्रोह' के होने या 'उसका ख़तरा/आशंका होने पर' लागू किया जा सकता है। **आन्तरिक अशान्ति या विद्रोह हो रहा है या होने का ख़तरा है, यह कौन तय करेगा? यह सरकार तय करेगी! यानी, जब भी सरकार अपने दमन के ख़िलाफ़ उठती आवाज़ से दमन के ज़रिये नहीं निपट पायेगी और "ख़तरा" महसूस करेगी, तो वह आपातकाल लागू कर सकती है! और ऐसे में आपके सारे अधिकार समाप्त हो जायेंगे।**

हम सभी साथियों से पूछना चाहते हैं : क्या आप इन धाराओं को भी बचाना चाहते हैं? इसमें तो भाजपा और संघ परिवार भी आपसे भी ज़्यादा तेज़ आवाज़ में आपका समर्थन करेंगे! जब आप "संविधान बचाओ" का नारा देते हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं होता है कि "60 प्रतिशत संविधान बचाओ" या "70 प्रतिशत संविधान बचाओ"। इसका मतलब होता है कि पूरे संविधान को बचाओ। जब आप पूरे संविधान को बचाते हैं, तो आप भाग अट्ठारह की इन ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना धाराओं को भी बचाते हैं। तब आप आईपीसी और सीआरपीसी को भी बचाते हैं, जो कि संविधान का अंग तो नहीं हैं, लेकिन संवैधानिक व विधिक ढाँचे का अंग ही हैं। इसकी भी सभी भयंकर दमनकारी औपनिवेशिक धाराओं को 1950-51 में क़ानून मंत्रालय द्वारा की गयी समीक्षाओं में बदला नहीं गया था, जैसे कि धारा 144, धारा 124 (ए), वग़ैरह। यह डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में बनी क़ानून मंत्रालय की समीक्षा समिति द्वारा भी नहीं हटायी गयीं थी। धारा 19 में भी अभिव्यक्ति के अधिकार पर "तर्कसंगत सीमाएँ" भी डॉ. अम्बेडकर के सुझाव पर ही जोड़ा गया था, जिन "तर्कसंगत सीमाओं" की व्याख्या करने की ज़िम्मेदारी सरकार की होगी।

अब आप ही बतायें ऐसा संविधान किस हद तक जनवादी और नागरिक अधिकारों की, विरोध करने के अधिकार की और शान्तिपूर्ण रूप से एकत्र होने के अधिकार की रक्षा कर सकता है? यह तो हो गयी सैद्धान्तिक बात। अब आनुभविक बात पर सोचें। **क्या संविधान आज़ादी के बाद के 72 वर्षों में जनता के जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त कर पाया है? जब तक सरकार और व्यवस्था के लिए कोई विरोध-प्रदर्शन और आन्दोलन अपने वर्चस्व (हेजेमनी) के दायरे के भीतर पचा लेने योग्य है, तब तक उसकी आज्ञा दी जाती है। यदि कोई आन्दोलन या विरोध इस दायरे का अतिक्रमण करने लगता है, तो धारा 144, धारा 149, धारा 124 (ए), संविधान की धारा 352, 353, 355, आदि का इस्तेमाल करके उसे ग़ैर-क़ानूनी बना दिया जाता है और फिर उसे पुलिस या सेना का इस्तेमाल करके कुचलने की पूरी आज़ादी सरकार को मिल जाती है। यह भारत के आज़ाद होने के बाद बार-बार हुआ है।**

आप यहाँ यह तर्क नहीं दे सकते हैं कि यह तो इसलिए हुआ क्योंकि संविधान को लागू करने वाले बदमाश थे। यह अपने आपको मूर्ख बनाने वाली बात होगी और कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा क्यों करेगा? वास्तव में, "बदमाश लोग" भी ऐसा इसीलिए कर पाते हैं क्योंकि संविधान में बदमाशी करने की इजाज़त देने वाले प्रावधान हैं। यह तो संविधान का काम होता है कि अगर "बदमाश लोग" भी सत्ता में आयें तो वे जनता के जनवादी हक़ों को न छीन पायें क्योंकि सत्ता में हमेशा "सदाचारी लोग" (!!??) पहुँचे न तो इसकी गारण्टी ली जा सकती है और अगर ऐसे "सदाचारी लोग" सत्ता में पहुँच भी जायें तो उनके "सदाचारी" बने रहने की कोई गारण्टी नहीं होती है। अभी तो हम उन बदमाशियों की बात ही नहीं कर रहे हैं जो कि शासक वर्ग और उसके कारकून संविधान को ताक़ पर रखकर करते हैं। वह तो एक थाने का कॉन्स्टेबल ही ग़रीबों के साथ रोज़ ही करता है।

साथ ही, सही मायने में हमारा संविधान सेक्युलर भी नहीं है। सेक्युलरिज़्म से जुड़ी हुई संविधान में तीन धाराएँ हैं जो कहती हैं कि हर किसी को अपने धर्म का पालन करने की आज़ादी है, राज्य का कोई आधिकारिक धर्म नहीं होगा और तीसरा कि किसी के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। **लेकिन क्या सेक्युलरिज़्म का यही अर्थ होता है? नहीं! सेक्युलरिज़्म का अर्थ होता है राज्य और सामाजिक जीवन का धर्म से पूर्ण विलगाव। यदि हमारा राज्य सही मायने में सेक्युलर होता तो चुने गये पदाधिकारी ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं लेते, अदालतों में गीता की शपथ नहीं दिलवायी जाती, स्कूली में धार्मिक प्रार्थनाएँ नहीं करवायी जातीं और धार्मिक आधार पर बने पर्सनल लॉ नहीं होते। उल्टे ये चीज़ें तो ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक होतीं।** जैसा कि हमने पहले ज़िक्र किया नफ़रत फैलाने वाले धार्मिक भाषणों पर रोक लगाने के नाम पर 1951 में अम्बेडकर की अध्यक्षता वाली कैबीनेट कमेटी ने धारा 19 द्वारा दिये जाने वाले अभिव्यक्ति के अधिकार पर "तर्कसंगत सीमाएँ" लगाने का संशोधन प्रस्तावित किया था, जो कि बाद में पारित भी हुआ और भारत के संविधान का पहला संशोधन बना। लेकिन हम फिर पूछते हैं कि क्या आप बता सकते हैं कि आज तक किसी भी धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले फ़ासीवादी या धार्मिक कट्टरपन्थी नेता पर यह प्रावधान क्यों नहीं लगा या क्यों नहीं असरदार हुआ? अगर यह प्रावधान वास्तव में धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले नेताओं पर वाक़ई रोक लगाने के लिए होता तो अब तक सारे भाजपाई जेल में होते! **अगर वास्तव में मक़सद यह था कि धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले नेताओं पर रोक लगायी जाये, तो फिर नेहरू सरकार और अम्बेडकर को इसके लिए एक अलग धारा जोड़नी चाहिए थी, जो स्पष्ट रूप में बताती और परिभाषित करती कि धार्मिक घृणा फैलाने वाली शक्तियों को सज़ा देने के लिए क्या प्रावधान होंगे और इसकी कड़ी से कड़ी सज़ा निर्धारित करने के लिए भारतीय दण्ड संहिता में धारा जोड़ी जाती।** आईपीसी में पहले से ही घृणा भड़काने वाले भाषणों पर रोक लगाने वाले कई प्रावधान हैं, मगर अव्वलन वे निष्प्रभावी हैं और दूसरा उनके मातहत जितनी सख़्त सज़ा का प्रावधान होना चाहिए, वह नहीं है। लेकिन दूसरी ओर धारा 149 के मातहत शान्तिपूर्ण रूप से एकत्र होने वालों पर भी ऐसे नियम लागू कर दिये गये हैं, जो कि उनके लगभग सभी मौलिक अधिकार तक छीन लेते हैं! लेकिन संविधान में और आईपीसी में धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति पर पूर्ण रोक लगाने और ऐसा करने वालों के लिए कठोरतम दण्ड निर्धारित करने की बजाय, इसको रोकने की नौटंकी करते हुए संविधान की धारा 19 में ही "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता" को बाधित कर दिया गया। अब इसका नतीजा क्या हुआ है पिछले 72 वर्षों में यह सभी जानते हैं। डॉ. कफ़ील ख़ान जेल जाते हैं और फ़ासीवादी योगी आदित्यनाथ पूरे देश में साम्प्रदायिक भाषण देते हुए घूमता है। और ऐसा केवल भाजपा के केन्द्र सरकार में होने पर नहीं होता है। योगी को तो अपना राजनीतिक जीवन शुरू करते ही कोई सही मायने में सेक्युलर और जनवादी संवैधानिक व्यवस्था जेल की सलाख़ों के पीछे डाल देती और वह भी धारा 19 में जनता के बुनियादी जनवादी अधिकार के साथ कोई खिलवाड़ या छेड़छाड़ किये बिना। लेकिन हुआ उसका उल्टा। गौतम नवलखा, सुधा भारद्वाज और यहाँ तक कि रामचन्द्र गुहा और योगेन्द्र यादव और प्रशान्त भूषण तक को झूठे आरोपों में या शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया जाता है या डिटेन कर लिया जाता है और योगी, कपिल मिश्रा, प्रवेश वर्मा जैसे फ़ासीवादी गुण्डे धार्मिक नफ़रत फैलाने वाले और दंगे करवाने वाले भाषण देते घूमते रहते हैं! **ज़ाहिर है कि इसमें इस बात की भी एक भूमिका है कि सत्ता में कौन है, लेकिन इस बात से इन्कार करना भी अपने आपको भुलावे में रखना होगा कि हमारे संविधान में वास्तव में ऐसी धाराएँ हैं, जो कि आम मेहनतकश जनता, आन्दोलनकारियों और विरोध-प्रतिरोध करने वालों के सारे नागरिक व जनवादी अधिकारों को छीनने के हथियार सत्ता में बैठे लोगों को देती हैं।**

इसलिए यह गम्भीरता से सोचना होगा कि क्या हमारे मौजूदा आन्दोलन के लिए "संविधान बचाओ" का नारा सही नारा है या फिर एक आत्मघाती नारा। हम **संविधान बचाने की गुहारें लगाए बिना संविधान द्वारा मिलने वाले कुछ जनवादी और नागरिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष कर सकते हैं और हमें ऐसा ही करना चाहिए।**

संविधान में जो भी सीमित अर्थों में जनवादी है, उसको ख़त्म करने के ख़िलाफ़ हमें लड़ना चाहिए, लेकिन बिना "संविधान बचाओ" का नारा दिये क्योंकि इन्हीं जनवादी अधिकारों को छीन लेने का भी पूरा अधिकार संविधान में ही है। हमारे आन्दोलन का रास्ता संविधानवाद या अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद नहीं हो सकता है। जाति उन्मूलन के प्रति डॉ. अम्बेडकर के सरोकार को हम भी साझा करते हैं। लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा (ड्यूईवादी व्यवहारवाद) के चरित्र को समझना भी अनिवार्य है [डॉ. अम्बेडकर की राजनीतिक विचारधारा, उसकी सीमा और उनके योगदानों के विषय में हमारा नज़रिया जानने के लिए निम्न लिंक्स को खोलें :

1. https://redpolemique.wordpress.com/2017/05/04/caste-question-marxism-and-the-political-legacy-of-b-r-ambedkar/
2. https://www.youtube.com/watch?v=Y5NHnmC558g
3. https://www.youtube.com/watch?v=4qpsmhvHvu0]

जैसा कि एजाज़ अहमद ने एडवर्ड सईद के बारे में लिखते हुए कहा था, "आलोचना न करना एकजुटता प्रदर्शित करने का सबसे बुरा तरीक़ा होता है।" इसलिए हमें अम्बेडकर के योगदानों को समझना होगा, लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा और उनके राजनीतिक कार्यक्रम के बेहद सीमित सुधारवादी चरित्र को भी समझना होगा जो कि सरकार (राज्य) को सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता मानता है, जनता के सामूहिक प्रयास से नीचे से बदलाव को ग़लत मानता है, समाज में पूर्ण रूप से क्रमिक विकास के सुधारवादी सिद्धान्त की हिमायत करता है। चूंकि वे सरकार को सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता मानते हैं इसीलिए वह आपातस्थिति को तय करने का अधिकार भी सरकार को ही देते हैं, हालाँकि हर सरकार के लिए आपातस्थिति का अर्थ होता है कि उसके लिए आपात स्थिति या ख़तरे की स्थिति, जनता के लिए नहीं। लेकिन चूंकि अम्बेडकर राज्य को शासक वर्गों के दमन का उपकरण नहीं मानते थे बल्कि एक वर्गेतर संस्था मानते थे, जो कि 'महान मध्यस्थकर्ता' और 'सर्वाधिक तार्किक अभिकर्ता' की भूमिका निभाती है, इसलिए उनके अनुसार सरकार के ये विशेषाधिकार वैध हैं। **इसी राजनीतिक विचारधारा से समस्या की शुरुआत होती है और इसीलिए यह आज हमारे फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन का आधार नहीं बन सकती है। न ही संविधानवाद और "संविधान बचाओ" का नारा हमारे आन्दोलन की बुनियाद बन सकता है।**

हम आज के दौर में इन प्रश्नों पर आपको सोचने के लिए इसलिए आमंत्रित कर रहे हैं क्योंकि आज हमारा आन्दोलन एक दोराहे पर खड़ा है। आगे हमें कहाँ जाना है, इसकी कोई एक सोची-समझी रणनीति और विज़न अभी तैयार किया जाना है। यही कारण है कि इन राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रश्नों को हम कोरे सैद्धान्तिक प्रश्न समझकर नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों और दलित मेहनतकश आबादी के भी जो तमाम जेनुइन राजनीतिक कार्यकर्ता हैं, उनसे भी हम दिली अपील करेंगे कि अपने जज़्बातों को किनारे रखकर एक बार तार्किक और वैज्ञानिक तौर पर सोचें। यह हमारे आन्दोलन के भविष्य का प्रश्न है। इसी प्रश्न पर साम्प्रदायिक फ़ासीवादी मोदी-शाह की जोड़ी पर हमारी जीत निर्भर करती है।

●

'आप' चुप नहीं है, 'आप' की राजनीति बोल रही है

(पेज 28 से जारी)

भी नहीं है। लेकिन जिस हिंसा में 52 लोगों की जानें गयीं उसे भड़काने वाले अनुराग ठाकुर, कपिल मिश्रा और प्रवेश वर्मा के खुलेआम घूमने और 'वाई प्लस' सुरक्षा इन्तज़ाम पर एक शब्द नहीं बोले केजरीवाल। अब तक दिल्ली में 654 एफ़आईआर और 1820 गिरफ़्तारियाँ हो चुकीं हैं, सैंकड़ो बेगुनाह मुसलमान नौजवान क़ैद में हैं जहाँ उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा है, बेरहमी से मारा-पीटा जा रहा है लेकिन अभी भी चुप हैं केजरीवाल। जिस प्रकार उत्तर प्रदेश और कर्नाटक में दिसम्बर में हुआ था वैसा ही दिल्ली में भी हो रहा है। जिस मुसलमान समुदाय को हिंसा और भगवा आक्रमण झेलना पड़ा, जिनकी जानें गयीं उन्हें ही सारी हिंसा का ज़िम्मेदार भी ठहराया गया। एक बार फिर वही घिनौनी साज़िश संघ, शाह और मोदी कर रहे हैं और "दिल्ली का बेटा" अपने माँ-बाप के पीठ में छुरा भोंक कर अपने हैवान यारों से जा मिला है। बहरहाल 25 फ़रवरी को केजरीवाल गृहमंत्री से मिले और उसके बाद भी हिंसा-प्रभावित क्षेत्रों में जाने, लोगों से मिलने और राहत कार्य करवाने की जगह राजघाट पर शान्ति की प्रार्थना करते नज़र आये। कितना पाखण्डी है यह भ्रष्टाचार के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ने वाला सेनानी! आपको क्या सुनाई दिया भ्रष्टाचार? हाँ, मुझे भी याद आया यह शब्द! कुछ सुना-सुना सा लग रहा है! आजकल चलन में नहीं है इसलिए याद करना पड़ता है वर्ना 2013 में इसकी माला जपने वाला यह पुजारी अब जब सत्ता में है तो जाने कहाँ चला गया वह भ्रष्टाचार ख़त्म करने वाला वायदा। भ्रष्टाचार का तो पता नहीं लेकिन क्या-क्या ख़त्म हो गया है, टूट गया है और बर्बाद हो गया है वह उत्तरपूर्व दिल्ली की जनता बेहतर जानती है।

●

दिल्ली में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी हमलों और दंगों पर

‘आप’ चुप नहीं है, ‘आप’ की राजनीति बोल रही है

● लता

23-25 फ़रवरी 2020 उत्तर-पूर्वी दिल्ली में हुई हिंसा दो समुदायों के बीच का स्वतःस्फूर्त टकराव नहीं था। यह पूरी तरह से मुसलमानों पर भगवा आतंकियों का हमला और सुनियोजित व राज्य द्वारा प्रायोजित दंगा था। भगवा फ़ासीवादी दरिन्दों के हाथों एक बार फिर तार-तार हुई इन्सानियत; धू-धू करते मकानों, भय, चीख़-पुकार और रहम की दुआओं के बीच सभ्यता, संस्कृति और संवेदना के परखच्चे उड़ रहे थे। बच्चों के आँसू, माँओं के चीत्कार और बीवियों की सिसकियाँ जिन्हें पुरुषत्व का भाव देते हैं, वैसे हैवानों की जमात गलियों, मुहल्लों में घूम-घूम कर ‘जय श्रीराम’ और ‘भारत माता की जय’ के नारे लगाते हुए, औरतों के साथ बदसलूकी और यौन हिंसा करते हुए, बच्चों के साथ हैवानियत कर रही थी और पुरुषों को मौत के घाट उतार रही थी। 1925 में स्थापित हिन्दुत्व फ़ासीवाद की फ़ैक्टरी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके अनुषंगी संगठन आम ग़रीब निम्न-मध्यवर्ग के बीच से कुण्ठित, बीमार मानसिकता वाले ऐसे दरिन्दों की जमात पैदा कर रही है। यह फ़ासीवादी विचारधारा अपने प्रतिरोध में उठने वाली आवाज़ों को दबाने के लिए बड़ी संख्या में गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले बेरोज़गार नौजवानों को हैवानियत का रोज़गार बाँट रही है। कपिल मिश्रा, अनुराग ठाकुर और प्रवेश वर्मा जैसे सैंकड़ों हैं जो गलियों-मुहल्लों में जाकर मासूम दिल और दिमाग़ों में ज़हर भर रहे हैं। पूँजीपतियों के तलवे चाटने वाले ये हिन्दुत्व फ़ासीवादी नेतागण जानते हैं कि पूँजीवाद के दिन संकट से भरे हैं और लोगों के ज़बर्दस्त शोषण, बदहाली और बेरोज़गारी के हालात बने हुए हैं। ऐसे में किसी भी प्रतिरोध को कुचलने के लिए इन्हीं दरिन्दों की फ़ौज काम आयेगी। चाहे सीएए, एनआरसी, एनपीआर हो या अन्य तमाम जन प्रतिरोध इनके पास आवाज़ों को कुलचने के लिए गली-गली फौज़ तैयार है। यह तैयारी लम्बे अरसे से चल रही है जब से आरएसएस की स्थापना हुई है और जगह-जगह आतंकवादी कार्रवाइयों, दंगे भड़काने और हिंसा फैलाने में इनका नाम रहा है। भगवा आतंक अभी अपने चरम पर है क्योंकि इसे सत्ता हासिल है और राज्य के सभी संस्थानों को इसने हस्तगत कर लिया है। क़ानून व्यवस्था के किसी भय के बिना या कहें पूरे संरक्षण में आज आतंकी कार्रवाई चल रही है और उसका ही एक प्रदर्शन था फ़रवरी माह के अन्त में दिल्ली की हिंसा।

वैसे तो जब से सीएए, एनआरसी और एनपीआर के विरोध की शुरुआत हुई है तब से ही आरएसएस के गुण्डों, भाजपा के सांसदों और विधायकों की खुलेआम हिंसा में भागीदारी और पुलिस की मिलीभगत स्पष्ट देखने को मिली है। लेकिन 23 से 25 फ़रवरी के हमलों के दौरान यह सच्चाई नंगे तौर पर सामने आयी जब पुलिस हमलावरों के साथ मिल कर पथराव, लूटपाट और आगजनी करती दिखी। अपशब्दों और गाली-गलौच के साथ मुस्लिम समुदाय को कहती नज़र आयी कि “और चाहिए आज़ादी?” नौजवानों को पीट-पीट कर पुलिस वालों ने अधमरा कर दिया और उनसे राष्ट्रगान गाने को कहा गया। उनमें से एक नौजवान फ़ैज़ान की मौत हो गयी। वीडियो और सबूत होने के बावजूद अभी तक उन पुलिसकर्मियों पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है। दिल्ली में जब केन्द्र सरकार द्वारा पारित नागरिकता संशोधन क़ानून के ख़िलाफ़ ही प्रदर्शन और प्रतिरोध आन्दोलन हो रहे थे तो निश्चित ही किसी को केन्द्र सरकार से कोई उम्मीद नहीं थी। स्वयं जिस सरकार का गृहमंत्री शाहीन बाग़ को धमकी और

लोगों को उसे समाप्त करने के भड़काऊ भाषण दे सकता है, उससे लोग लड़ने के लिए कमर कसे हुए हैं, न कि उससे कोई न्याय व्यवस्था की उम्मीद लगाए हैं।

लेकिन अभी नवगठित और पिछले पाँच साल से दिल्ली की गद्दी पर क़ाबिज़ रहने वाली केजरीवाल सरकार ने सबसे बड़ा विश्वासघात करते हुए आम लोगों की पीठ में छुरा घोंपा है। जिस केजरीवाल को दिल्ली के लिए विटामिन की गोली समझा वह निकला खेसाड़ी का साग! यह धोखा दिल्ली की जनता याद रखेगी। ख़ैर, मुस्लिम समुदाय पर हुए इन भगवा आतंकी हमलों के दौरान और भी कुछ चेहरे बेनक़ाब हुए हैं। इस सूची में निश्चित ही सबसे ऊपर अरविन्द केजरीवाल और उनकी आम आदमी पार्टी नाम आती है लेकिन कुछ अन्य चर्चित लोग भी हैं। पहले हम उनमें से कुछ पर चर्चा करेंगे फिर आयेंगे "दिल्ली के बेटे" पर।

कई विद्वतजन और स्थापित हस्तियाँ दिल्ली में हुई हिंसा को सीएए, एनआरसी और एनपीआर का विरोध कर रहे प्रदर्शनकारियों से जोड़ कर देख रहे थे। इस हिंसा के लिए उन्हें ज़िम्मेदार ठहरा रहे थे, उन पर ख़ासा नाराज़ हुए और उन्हें शान्ति-सद्भावना की नसीहतें भी दे दीं। एनडीटीवी की निधी राज़दान 24 फ़रवरी को अपने एक ट्वीट में ट्रम्प के सामने भारत और मोदी की छवि की ज़्यादा चिन्ता करती नज़र आयीं और सीएए, एनआरसी और एनपीआर प्रदर्शनकारियों पर खफ़ा हुईं और कहा कि उनका प्रतिरोध उग्र हो रहा है। बरखा दत्त और राजदीप सरदेसाई का क्या कहना जो "निष्पक्षता" बरकरार रखने की आड़ में सरकारपरस्ती करने और लिबरल होने के बीच 'टाइट रोप वाक' करते रहते हैं। लेकिन सीएए, एनआरसी और एनपीआर का विरोध कर रहे प्रदर्शनकारियों से सबसे ज़्यादा नाराज़ तो योगेन्द्र यादव थे। उन्होंने प्रदर्शनकारियों को ज्ञान बाँटा कि मोदी या ट्रम्प के बारे में हमारे विचार चाहे जो हों इस वक़्त भारत में एक राजकीय अतिथि आया हुआ है इसलिए हमें किसी भी प्रकार के नये प्रतिरोध प्रदर्शन आयोजित नहीं करने चाहिए। स्कूल-मास्टर के डिसिप्लिन का डण्डा बजाने वाले इन सामाजिक कार्यकर्ताओं के, जिनका नाभिरज्जु निहायत प्रतिक्रियावादी, ग़ैर-जनवादी, जातिवादी और धार्मिक कट्टरपन्थ के प्रति नतमस्तक अन्ना हज़ारे आन्दोलन से मिलता है, विचार में जनता मूर्ख होती है। उसे स्वयं पता नहीं होता सही-ग़लत का इसलिए उन्हें सही रास्ता दिखाने का काम यादव जैसे पढ़े-लिखे विद्वान करते हैं। इसलिए देखिए योगेन्द्र यादव ने मूर्ख जनता को समझाया कि राज्य हम सब से परे है जिसकी मर्यादा की हमें चिन्ता करनी चाहिए! अब योगेन्द्र यादव को आम जनता कैसे समझाए कि उनसे बेहतर वह इस राज्य का चरित्र समझती है जब रोज़ दिहाड़ी खटते, बोझा ढ़ोते और मैला साफ़ करते इस राज्य से उनका सामना होता है। नर्म-कोमल व्यक्तित्व के दिखने वाले ये सम्भ्रान्त सामाजिक कार्यकर्ता इसी शोषणकारी बुर्जुआ व्यवस्था की चौहद्दियों में बेहद ऊँचाई से होने वाले सुधार कार्यों के हिमायती हैं। इनके अनुसार जनता को अनुशासन और नियंत्रण में रखा जाना चाहिए। 35 मिनट तक 'दि क्विंट' को दिये अपने साक्षात्कार में योगेन्द्र यादव जी ने यही बात दुहरायी कि प्रदर्शनकारियों को ट्रम्प की यात्रा के दौरान ऐसा नहीं करना चाहिए था क्योंकि उस दौरान पूरे विश्व की निगाह भारत पर टिकी थी, हम इस्लामाबाद, सीरिया या नाइजीरिया के समान दिख रहे थे। हिंसा हुई और इसकी ज़िम्मेदारी प्रदर्शनकारियों की है क्योंकि ऊपर सरकार में बैठे लोगों को मौक़ा चाहिए था। वह मौक़ा सीएए का विरोध करने वालों ने थाली में परोस कर उन्हें दे दिया। लेकिन यादव जी अगर बात ऐसी थी तो इस छवि की चिन्ता सरकार को ज़्यादा होनी चाहिए थी न कि प्रदर्शनकारियों को। वह चाहती तो दिल्ली में एक तिनका भी नहीं हिलता। आपकी मोदी और शाह के बीच दूरी और "मोदी जी" के ख़िलाफ़ षड्यंत्र की बात पूरी तरह से हलक से नीचे नहीं उतरती। यह सच है कि ऐसी किसी सम्भावना के होने से इन्कार नहीं किया जा सकता। निश्चित ही इन पतित लोगों के बीच सत्ता और शक्ति को लेकर भयंकर आपसी होड़, खींचा-तानी लगी रहती है। अगर बात ऐसी भी थी तो इसमें प्रदर्शनकारियों को ज़िम्मेदार कैसे ठहराया जा सकता है? उन्हें मौक़ा चाहिए था और वे मौक़ा तो किसी भी रूप में निकाल लेते चाहे प्रदर्शनकारी अपने घर ही में क्यों न होते। बहरहाल, इन स्कूलमास्टर सरीखे लोगों का चरित्र भी जनता के सामने उजागर हो रहा है।

अब बात करते हैं ख़ुद को "दिल्ली का बेटा" कहने वाले हनुमानभक्त अरविन्द केजरीवाल की। एक बात तो तय है कि बेचारी दिल्ली भी अपनी क़िस्मत को कोस रही होगी; बेहद नालायक निकला उसका "बेटा"। दिल्ली की सड़कों पर नौजवानों को लहूलुहान कर उनसे राष्ट्रगान गाने को कहा जा रहा था, गलियों में आग लगी थी, चारों ओर चीख़-पुकार मची थी, सड़कों पर आम मेहनतकश लोगों के मौत का ताण्डव करते आरएसएस के भगवा आतंकी 'जय श्री राम' और 'भारत माता की जय' के नारे लगा रहे थे। ऐसे पलों में शर्मनाक और घृणास्पद था केजरीवाल का रवैया। क़ानून व्यवस्था अपने हाथ में नहीं होने का बहाना बना कर कायरों की तरह पूरा दिन घर या दफ़्तर में दुबके रहे जनाब। अरे नहीं! उन्हें तो मेलेनिया ट्रम्प से अपने "हैप्पिनेस क्लासेस" की वाहवाही लूटने से फ़ुर्सत नहीं थी। दिल्ली जल रही थी और ये जनाब चुप्पी साधकर वैसे ही दिल्ली को जलता देख रहे थे जैसे ज़ायनवादी यहूदी अपनी बालकनियों से फ़िलिस्तीन पर हो रही बमबारी देखते हैं। इनके अनुसार पुलिस पर इनका नियंत्रण नहीं था लेकिन तत्काल सेना बुलाने की माँग तो कर सकते थे। स्वयं इलाक़ों में जाकर दंगा रोकने की अपील करते, अपने कार्यकर्ताओं के साथ सद्भावना बैठकें करते और तत्काल हिंसा पीड़ितों के राहत कार्य में लग जाते। धरना प्रदर्शनों के लिए केजरीवाल प्रसिद्ध है। पहली बार

मुख्यमंत्री बनने के बाद भी उसने कई धरने दिये थे। इन फ़ासीवादी हमलों और दंगे के ख़िलाफ़ भी तो वह धरना दे सकता था। आप तत्काल गृहमंत्री से मिल कर सेना भेजने का दबाव बना सकते थे। लेकिन इसने इनमें से कुछ नहीं किया। बात स्पष्ट है। यह चुप्पी और घृणास्पद अकर्मण्यता आपकी स्थिति की वजह से नहीं बल्कि आपकी राजनीति की वजह से थी। यह पहली चुप्पी नहीं है जो लोगों को खटक रही है। आप पहले भी चुप रहे हैं जैसे मुज़फ़्फ़रनगर दंगों पर, सेना द्वारा कश्मीर और उत्तर-पूर्व के दमन पर। केजरीवाल 'यूथ फ़ॉर इक्वॉलिटी' जैसे समूहों की राजनीति पर भी चुप रहे हैं जो कि सवर्णवादी अवस्थिति से आरक्षण का विरोध करते हैं। यह भी बताया जाता है कि केजरीवाल स्वयं 'यूथ फ़ॉर इक्वॉलिटी के सदस्य भी थे। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि केजरीवाल जिस उच्च मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावादी राजनीति की नुमाइन्दगी करते हैं, उसकी नैसर्गिक एकता इसी प्रकार की राजनीति से बनती है। स्त्रियों और पुरुषों के बीच की असमानता पर भी केजरीवाल का कोई स्टैण्ड नहीं है। और तो और इनके अनुसार खाप पंचायतें समाज में व्यवस्था बनाने में मददगार होती हैं। उनके जातिगत संगठन और घोर प्रतिक्रियावादी रवैये को जानते हुए भी केजरीवाल ने खापों को प्रतिबन्धित करने का समर्थन नहीं किया था। केजरीवाल चुप रहे हैं आफ़्सपा, डिस्टर्ब्ड एरियाज़ एक्ट, पोटा, टाडा, यूएपीए, मकोका, आदि क़ानूनों पर, चुप हैं छत्तीसगढ़, उड़ीसा और झारखण्ड में आदिवासियों के क़त्लेआम पर। एक कायर की तरह जिन चीज़ों से आपका आमना-सामना सीधे तौर पर नहीं होता आप उस पर कायराना चुप्पी बरत सकते हैं। हालाँकि यह मात्र चुप्पी नहीं थी इसके पीछे कुछ और था। आपने कभी भी उन मुद्दों पर स्टैण्ड नहीं लिया जिससे बीजपी और संघ की राजनीति 'अनसेटल' हो। कहें तो अपने आपको विचारधारा-विहीन कहने वाले केजरीवाल की राजनीति कई मायनों में संघ की राजनीति के क़रीब ठहरती है। केजरीवाल की राजनीति वस्तुतः दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति है जिसकी फ़ासीवादी राजनीति से कई मायनों में क़रीबी को समझा जा सकता है। इसलिए इस 'वानाबी' छोटे संघी का दिल कचोटता होगा जब वह खुल कर इन मुद्दों पर अपनी अवस्थिति नहीं रख पाता होगा। जिस समय 'आप' की राजनीति उभार पर थी, दिल्ली का एक पढ़ा-लिखा और यूनिवर्सिटी, कॉलेजों से जुड़ा वर्ग इसके समर्थन में खड़ा था। उस वर्ग को नाराज़ नहीं करने और योगेन्द्र यादव, कमल मित्र चिनॉय और आनन्द कुमार के उस समय पार्टी में प्रभाव की वजह से केजरीवाल ने यह चुप्पी अपनायी थी लेकिन इनके रुख़ से नक़ाब आहिस्ता-आहिस्ता हट रहा है। भारत-पाकिस्तान के रिश्तों को लेकर होने वाली सियासत में वे मोदी सरकार से नाख़ुश नज़र आते हैं। उनके अनुसार, मोदी सरकार पाकिस्तान के प्रति पर्याप्त सख़्त नहीं है और भारत को ज़्यादा कठोर कार्रवाई करनी चाहिए। यह संघी ब्राण्ड राष्ट्रवाद 'आप' की राजनीति के असली दक्षिणपन्थी चेहरे की झलक देता रहा है। लेकिन धारा 370 को हटाये जाने का समर्थन, दिल्ली में चल रहे शाहीन बाग़ और शाहीन बाग़ जैसे प्रदर्शनों से दूरी और यह बयान कि अगर मौक़ा मिले तो वह शाहीन बाग़ 5 मिनट में ख़ाली करा सकते हैं, केजरीवाल के दक्षिणपन्थी चरित्र को उजागर कर रहा था। लेकिन उत्तरपूर्व दिल्ली के मुसलमानों पर हुए भगवा आतंकी आक्रमण और हिंसा के दौरान केजरीवाल का असली चेहरा साफ़-साफ़ सामने आ गया। वह सीधे संघ की गोद में जा बैठे।

24 फ़रवरी को पूरा दिन पुलिस की सांठ-गांठ में भगवा आतंकियों की हैवानियत देखते रहने के बाद 25 फ़रवरी को भागते-दौड़ते 5 मिनट की एक प्रेस कॉनफ्रेंस की चूंकि उन्हें दिल्ली की स्थिति पर गृहमंत्री से बातचीत करने जाना था। ख़ैर उस पाँच मिनट की बेहद महत्वपूर्ण प्रेस बैठक में एक सवाल नहीं लिया और पूरी बातचीत में पुलिस को ज़मीन पर कार्रवाई के लिए ज़्यादा शक्ति देने की बात कही गयी। केजरीवाल ने कहा कि पुलिस के पास लाठीचार्ज और हवाई फ़ायरिंग की इजाज़त नहीं है जिससे स्थिति नियंत्रण में नहीं आ रही है। अपने पूरे वक्तव्य में एक बार भी हिंसा भड़काने वाले कपिल मिश्रा, अनुराग ठाकुर और प्रवेश वर्मा को ज़िम्मेदार ठहराना तो बेहद दूर उनका नाम तक नहीं लिया और जो पुलिस लोगों को लाठियों से मार-मार कर अधमरा कर रही थी, पत्थर बरसा रही थी, उसके हाथों लाठीचार्ज और हवाई फ़ायरिंग की माँग कर रहे थे केजरीवाल! 24 फ़रवरी की रात तक आम दिल्लीवासियों के पास ऐसे कई फ़ुटेज पहुँच गये थे जिसमें दिल्ली पुलिस का हिंसात्मक रवैया स्पष्ट नज़र आ रहा था कि किस प्रकार वे भगवा आतंकियों के साथ मिल कर पथराव और अगजनी कर रहे थे तो क्या दिल्ली के मुख्यमंत्री को इसकी ख़बर नहीं होगी? ख़बर तो पूरी थी लेकिन यह छोटा वानाबीसंघी हिन्दुत्व के विकराल होते स्वरूप को भांप गया है और इसके सामने नतमस्तक होकर संघी फ़ासीवादियों को बता रहा है कि वह भी उन्हीं में से एक है, जो भी करना है करो, उसका पूरा समर्थन है। पुलिस को अधिक शक्ति दिये जाने की बात जो केजरीवाल कह रहे थे, मीनाक्षी लेखी और अमित शाह ने संसद में वही कहा। चूंकि पुलिस के पास प्रदर्शनकारियों को नियंत्रित करने की शक्ति नहीं है इसलिए ये दंगे हो रहे हैं! लेखी का भी सीधा निशाना शाहीन बाग़ जैसे प्रदर्शनों पर था और वही बात केजरीवाल कह रहे थे। संघ के प्रति अपना निष्ठाभाव केजरीवाल ने कूद-कूद कर, उछल-उछल कर और रेंग-रेंग कर हर तरह से है। पुलिस के एक व्यक्ति की मौत पर पूरी तत्परता से बोले केजरीवाल, लेकिन भगवा हमले के दौरान पुलिस के अपराधों, हैवानियत पर एक शब्द नहीं बोले केजरीवाल। त्वरित गति से कार्रवाई ताहिर हुसैन के ख़िलाफ़ जिसके ख़िलाफ़ इन्टेलिजेंस ब्यूरो के एक कर्मचारी अंकित शर्मा की हत्या का आरोप है, लेकिन जिसके अभी कोई पुख़्ता सबूत

(पेज 25 पर जारी)

नज़्म

सब याद रखा जायेगा

● आमिर अज़ीज़

तुम रात लिखो, हम चाँद लिखेंगे
तुम जेल में डालो, हम दीवार फाँद लिखेंगे
तुम एफ़.आई.आर लिखो, हम हैं तैयार लिखेंगे
तुम हमें क़त्ल कर दो, हम बनके भूत लिखेंगें
तुम्हारे क़त्ल के सारे सबूत लिखेंगे
और तुम अदालतों से बैठकर चुटकुले लिखो, हम सड़को-दीवारों पर इन्साफ़ लिखेंगे
बहरे भी सुन लें इतनी ज़ोर से बोलेंगे
अन्धे भी पढ़ लें इतना साफ़ लिखेंगे
तुम काला कमल लिखो, हम लाल गुलाब लिखेंगे
तुम ज़मीन पर ज़ुल्म लिख दो
आसमाँ पर इन्क़लाब लिखा जायेगा।

सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा।
और तुम्हारी लाठियों और गोलियों से जो क़त्ल हुए हैं मेरे यार सब
उनकी याद में दिलों को बर्बाद रखा जायेगा
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा
और तुम स्याहियों से झूठ लिखोगे, हमें मालूम है,
हो हमारे ख़ून से ही हो सही, सच ज़रूर लिखा जायेगा
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा
और मोबाइल, टेलीफ़ोन, इण्टरनेट भरी दोपहर में बन्द करके
सर्द अँधेरी रात में पूरे शहर को नज़रबन्द करके
हथौड़ियाँ लेकर दफ़अतन मेरे घर में घुस आना
मेरा सर-बदन, मेरी मुख़्तसर सी ज़िन्दगी को तोड़ जाना
मेरे लख़्त-ए-जिगर को बीच चौराहे पर मारकर
यूँ बेअन्दाज़ झुण्ड में खड़े होकर तुम्हारा मुस्कुराना
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा।

और दिन में मीठी-मीठी बातें करना सामने से
सब कुछ ठीक है हर ज़ुबान में तुतलाना
रात होते ही हक़ माँग रहे लोगों पर लाठियाँ चलाना, गोलियाँ चलाना
हमीं पर हमला करके, हमीं को हमलावार बताना
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा
और मैं अपनी हड्डियों पर लिखके रखूँगा ये सारे वारदात
तुम जो माँगते हो मुझसे मेरे होने के काग़ज़ात
अपनी हस्ती का तुमको सबूत ज़रूर दिया जायेगा
ये जंग तुम्हारी आख़िरी साँस तक लड़ा जायेगा
सब याद रखा जायेगा,
सब कुछ याद रखा जायेगा।

ये भी याद रखा जायेगा कि किस-किस तरह से तुमने वतन को तोड़ने की साज़िशें कीं
ये भी याद रखा जायेगा किस-किस जतन से हमने वतन को जोड़ने की ख़्वाहिशें कीं
और जब कभी भी ज़िक्र आयेगा जहाँ में दौर-ए-बुज़दिली का
तुम्हारा काम याद रखा जायेगा
और जब कभी भी ज़िक्र आयेगा जहाँ में तौर-ए-ज़िन्दगी का
हमारा नाम याद रखा जायेगा
कि कुछ लोग थे जिनके इरादे टूटे नहीं थे लोहे की हथौड़ियों से
कि कुछ लोग थे जिनके ज़मीर बिके नहीं थे इज़ारेदारों की कौड़ियों से, जैसे तुम्हारे बिक गये हैं!
कि कुछ लोग थे जो डटे रहे थे तूफ़ान-ए-नूह के गुज़र जाने के बाद तक
कि कुछ लोग थे जो ज़िन्दा रहे थे अपनी मौत की ख़बर आने के बाद तक
और भले भूल जाये पलक आँखों को मूँदना
भले भूल जाये ज़मीं अपनी धुरी पे घूमना
हमारे कटे परों की परवाज़ को
हमारे फटे गलों की आवाज़ को याद रखा जायेगा।

तुम रात लिखो, हम चाँद लिखेंगे
तुम जेल में डालो, हम दीवार फाँद लिखेंगे
तुम एफ़.आई.आर लिखो, हम हैं तैयार लिखेंगे
और तुम हमें क़त्ल कर दो
यूँ करो कि तुम हमें क़त्ल कर दो
हम बनके भूत लिखेंगें
तुम्हारे क़त्ल के सारे सबूत लिखेंगे
और तुम अदालतों से बैठकर चुटकुले लिखो, हम सड़को-दीवारों पर इन्साफ़ लिखेंगे
बहरे भी सुन लें इतनी ज़ोर से बोलेंगे
अन्धे भी पढ़ लें इतना साफ़ लिखेंगे
और तुम काला कमल लिखो, हम लाल गुलाब लिखेंगे
तो तुम ज़मीन पर ज़ुल्म लिख दो
आसमाँ पर इन्क़लाब लिखा जायेगा।
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा।

ताकि तुम्हारे नाम पर ताउम्र लानतें भेजी जा सकें
ताकि तुम्हारे मुजस्समों पर कालिखें पोती जा सकें
तुम्हारे नाम, तुम्हारे मुजस्समों को आबाद रखा जायेगा
सब याद रखा जायेगा
सब कुछ याद रखा जायेगा।

अर्थजगत

यस बैंक का डूबना – भारतीय अर्थव्यवस्था के गहराते संकट की एक और अभिव्यक्ति

● सनी

9 मार्च को सेनसेक्स 2300 पॉइन्ट से नीचे गिर गया। यह 'ब्लडबाथ' अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की घटती क़ीमतों, कोरोना वायरस के चलते अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक सौदों में आये घाटों के कारण हुआ। कच्चे तेल के बैरल की क़ीमतें कम होना अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चल रही गलाकाटू प्रतिस्पर्धा का उदाहरण है जिसमें विश्व की सबसे बड़ी इज़ारेदारियों के हितों के लिए कई देशों की सरकार का टकराव चल रहा है। मज़ेदार बात यह भी है कि कच्चे तेल की गिरती क़ीमतें भारत में पेट्रोल और डीजल के दामों में नहीं दिखाई देती हैं। बहरहाल, इन दोनों कारणों के चलते संकट के मुहाने पर खड़ी वैश्विक अर्थव्यवस्था फिसल गयी। वहीं भारतीय अर्थव्यवस्था जो कि यस बैंक की बर्बादी के चलते पहले ही जूझ रही थी, अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के गिरने के साथ भरभराकर गिर गयी। यस बैंक की बर्बादी आईएलएफ़एस और तमाम ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनियों, पीएमसी बैंक के बाद फिर से अर्थव्यवस्था को संकट के भंवर में ले आयी है। अब जब इस बैंक को आरबीआई ने मोरेटोरियम में रखा है और एक महीने तक अधिकतम राशि निकालने की सीमा तय कर दी है तो चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। मोदी सरकार ने यस बैंक के राणा को गिरफ़्तार कर इसका ठीकरा उसके और उसके परिवार के सिर फोड़ दिया है। परन्तु इसके लिए ज़िम्मेदार वे कॉरपोरेट घराने हैं जिन्होंने सरकार के संरक्षण में क़र्ज़ की रक़म अदा नहीं की। मगर इन पर कोई कार्रवाई नहीं होगी। अनिल अम्बानी, सुभाष चन्द्रा और दिवान फ़ाइनांस के मालिक और इस फ़ेहरिस्त में शामिल कॉरपोरेट घरानों को कोई सज़ा देने की बजाय बेलआउट पैकेज मिल सकता है। इण्डियन एक्सप्रेस की रिपोर्ट बताती है कि दस बड़े बिज़नेस घरानों की 44 कम्पनियों ने यस बैंक से 34,000 करोड़ रुपये का क़र्ज़ लिया जो कि वापस नहीं किया। इसमें सबसे अधिक अनिल अम्बानी की कम्पनियों ने लिया – 12,800 करोड़ का क़र्ज़। सुभाष चन्द्रा के एस्सल ग्रुप की 16 कम्पनियों ने 8,400 करोड़ का क़र्ज़ लिया। दिवान ग्रुप की दिवान हाउसिंग फ़ाइनांस कॉरपोरेशन और बिलिंग रिएल्टर्स प्राइवेट लिमिटेड की कम्पनियों ने 4,375 करोड़ का क़र्ज़ लिया। वहीं 2018 में बर्बाद हुई आईएल एण्ड एफ़एस ने 2500 करोड़ क़र्ज़ लिया। पूँजीपति घरानों द्वारा हड़प लिये गये इन क़र्ज़ों पर सरकार भी मौन है और गोदी मीडिया भी और इनकी भरपाई भी अब जनता के पैसों से करने की पूरी तैयारी की जा चुकी है।

बैंकीय संकट पिछले साल ही एनबीएफ़सी के धराशायी होने के साथ शुरू हो चुका था जो लम्बे समय से एनपीए के रूप में समन्दर पर आइसबर्ग की तरह दिख रहा था। इस संकट के कालक्रम में अभी तक पंजाब नेशनल बैंक का घोटाला जिससे बैंक दिवाला नहीं हो पाया, पंजाब एण्ड सिन्ध बैंक जिसका दिवाला निकल गया, आईएलएफ़एस और दर्जनों एनबीएफ़सी शामिल हैं जो दिवालिया घोषित हो चुकी हैं, घटित हो चुके हैं। इस दौरान सरकार ने बड़ी पूँजी के मुनाफ़े की वफ़ादार पालतू की तरह से हिफ़ाज़त की है। एनपीए यानी नॉन परफ़ार्मिंग एसेट्स, यानी कि पूँजीपतियों द्वारा क़र्ज़ के रूप में हड़प लिये गये जनता के पैसे, महज़ कोई साधारण घोटाला नहीं है बल्कि मौजूदा दौर में वित्तीय पूँजी के काम करने का एक तरीक़ा है। इसके ज़रिये नित-निरन्तर बड़ी पूँजी बैंकों में जमा जनता के पैसों को खाती रहती है। यह लूट इन वित्तीय कम्पनियों द्वारा 1990 के बाद से बड़े स्तर पर जारी रही है। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों और 2014 से नवउदारवादी नीतियों के फ़ासीवादी संस्करण के कारण साल दर साल यह बढ़ती रहती है और आज एनपीए बढ़कर 9.5 लाख करोड़ के पार जा चुका है।

दूसरी ओर सरकारों द्वारा बड़े कॉरपोरेट घरानों को मिलने वाले बेलआउट पैकेज, रियायतें व छूट अलग हैं। अनिल अम्बानी, सुभाष चन्द्रा सरीखे पूँजीपति जिन्हें सरकार येन-केन-प्रकारेण मदद कर रही है उन्हें यस बैंक से ये मदद भी सरकार की निगरानी के बिना मिलनी असम्भव थी। अब सरकार एसबीआई की जमा पूँजी से एक विचारणीय हिस्सा निकालकर यस बैंक में लगायेगी और बैंक को बचायेगी। बैंक बचेगा पर जिन्होंने पैसा डुबाया है उनका बाल

भी बांका न होगा और न कोई वसूली। उन्हें सरकार से किसी दण्ड का सामना नहीं करना पड़ेगा। सरकार का राजदण्ड तो बस सीएए-एनआरसी का विरोध करने वालों के लिए है, पूँजीपतियों के लिए थोड़े ही, क्योंकि यह राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी और उनकी ही सेवा के लिए है! अनिल अम्बानी सरीखे पूँजीपतियों के आगे तो योगी जैसे सख़्त नेता भी नतमस्तक रहते हैं। ख़ैर, 2020 के बजट में सरकार ने पब्लिक सेक्टर कम्पनियों को लुटाने का खुला ऐलान किया। एलआईसी व अनय पब्लिक सेक्टर कम्पनियों में अपने हिस्से को बेचने की स्वीकृति दी। टेलीकॉम सेक्टर को बड़ा बेलआउट पैकेज देने की तैयारी चल रही है। पिछले साल जहाँ सरकार ने एनपीए के बोझ तले कम्पनियों को उभारने के लिए 70,000 करोड़ रुपये देने का वायदा किया था वहीं तमाम एनबीएफ़सी के लिए आरबीआई को 1.34 लाख करोड़ रुपये ख़ाली करने को कहा। यही कारण था कि इस सरकार को पूँजीपतियों ने चुनकर सत्ता में भेजा था। वहीं दूसरी तरफ़ मज़दूरों को लूटने के लिए श्रम क़ानूनों को कमज़ोर कर चार बिलों में तब्दील करने का काम भी इस सरकार ने जारी रखा है, जो कि मुनाफ़े की दर के संकट से पूँजीपति वर्ग को निजात दिलाने का दूसरा अहम क़दम है।

मोदी अभी भी बीच-बीच में पाँच ट्रिलियन की अर्थव्यवस्था बनाने की बात कहता है पर इसे अधिकतर लोग जुमले के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। आर्थिक संकट के चलते छोटे धन्धों की तबाही, खेती के संकट और भयंकर बेरोज़गारी पर कोई सवाल न उठे इसलिए पूरे देश को सीएए-एनआरसी और एनपीआर के मुद्दों में उलझा दिया गया है। दूसरी तरफ़, मोदी संकट में अपने कॉरपोरेट आकाओं को बेलआउट पैकेज देकर और एनपीए माफ़ कर, बैंकों को लुटवाकर, पब्लिक सेक्टर की कम्पनियों को औने-पौने दामों पर बेचकर उनका मुनाफ़ा बचाने में मदद कर रहा है। मोदी सरकार और पूँजीपति वर्ग संकट का बोझ ग़रीब जनता पर डाल रहे हैं।

यस बैंक का संकट पिछले साल ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनियों (नॉन बैंकिंग फ़ाइनांस कम्पनी, एनबीएफ़सी) के संकट का अगला ही चरण है। यह संकट पिछले साल से बैंकों से लिए क़र्ज़ की रक़म वापस दे पाने में असमर्थ कॉरपोरेट घरानों के संकट (इसे एन.पी.ए. (नॉन परफ़ॉर्मिंग एसेट्स) के रूप में लोग जानते हैं) के रूप में खुले रूप में प्रकट हुआ। पिछले साल एनपीए के बोझ तले दबे बैंको की कमर ही टूट गयी थी। इसके बाद सभी बैंकों ने बेहद सम्भल कर क़र्ज़ देना शुरू किया जिससे नये एनपीए के चलते बैंक क़र्ज़ की राशि को 'रिकवर' कर सके। संकट की शुरूआत 2018 में आईएल एण्ड एफ़एस (इन्फ़्रास्ट्रक्चर लीज़िंग एण्ड फ़ाइनांस सरविसेज़, यह देश की बड़ी ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनी है जिसमें भारतीय बीमा निगम, स्टेट बैंक व जापानी बीमा कम्पनी का पैसा लगा है) के दिवालिया हाने के संकेत के रूप में मिली। परन्तु सरकार ने आईएल एण्ड एफ़एस को अपने हाथों में लेकर ऋणधारकों तक यह आश्वासन पहुँचाया कि देर-सबेर उनका उधार चुकाया जायेगा। इस तरह सरकार ने व्यवस्था पर मण्डरा रहे आसन्न संकट को कुछ समय के लिए टाल दिया। इस दौरान इस संस्था पर क़रीब 91,000 करोड़ का क़र्ज़ हो गया था जो यह चुकाने में असमर्थ थी। आईएल एण्ड एफ़एस को तो सरकार ने बचा लिया परन्तु अगले साल 2019 में कई ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनी बर्बादी की कगार पर खड़ी हो गयीं। वित्तीय संकट पहले से अधिक विकराल रूप लेकर आया। ज़्यादातर ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनियों के स्टॉक औंधे मुँह गिर गये। रिलायंस कैपिटल से लेकर डीएचएफ़एल सरीखी कम्पनियाँ संकट में थीं। पिछले कुछ सालों में जैसे ही कई कम्पनियाँ नॉन परफ़ॉरमिंग एसेट घोषित हुईं, बैंको द्वारा क़र्ज़ लेना मुश्किल हो गया क्योंकि ऐसी एक-दो और बड़ी लेनदारी डूबती तो बैंक भी डूब सकते थे। देश के बैंको का एनपीए सात लाख करोड़ के आँकडे को छू चुका था। ऐसे में एनपीए घोषित होने के कगार पर खड़ी कम्पनियों ने अपनी शैल कम्पनियों से और दूसरी तरफ़ रियल स्टेट मालिकों ने निर्माण हेतु पैसे ग़ैर-बैंकीय वित्तीय कम्पनियों से लेने शुरू किये क्योंकि एनबीएफ़सी द्वारा क्रेडिट हिस्ट्री ख़राब होने पर भी ऊँची दरों पर क़र्ज़ दिया जाता है। इन एनबीएफ़सी का मक़सद ऊँची ब्याज़ दरों के ज़रिये मूलधन के साथ अपना मुनाफ़ा वसूलना होता है। ये कम्पनी म्युचअल फ़ण्ड, बैंक, बीमा कम्पनी आदि से उधार लेकर आम तौर पर वाहन ख़रीदने हेतु, बिल्डरों को और छोटी कम्पनियों को बढ़ी हुई दरों पर क़र्ज़ देते हैं। ऋण लेना और उसे अधिक दर पर ऋण के रूप में बेच देना – इन कम्पनियों का यही काम है। यह क्रम जारी रहा परन्तु रियल स्टेट उद्योग में बिल्डरों द्वारा बनाये मकानों को ख़रीददार नहीं मिल रहे थे। ऋण मिलता रहे इसके लिए क़ीमतें ऊँची ही रखी गयीं। रियल स्टेट में बढ़ी क़ीमतों द्वारा फुलाया यह गुब्बारा आख़िरकार फूट गया। बिक्री न होने के कारण ज़्यादातर रियल स्टेट के बिल्डर क़र्ज़ चुका पाने में असफल रहे और इस कारण ग़ैर-बैंकीय वित्तीय संस्थान भी अपने ऋणों को चुकाने में असफल हुए और इस क्रम में ये कम्पनियाँ औंधे मुँह गिरने लगी। इन कम्पनियों से ऋण लेकर वाहन की ख़रीदारी करने वाली आबादी का हिस्सा भी वाहन ख़रीदने में अक्षम है। इस दौरान कम्पनियों के दिवालिया होने का ठीकरा केवल रियल स्टेट कम्पनियों पर ही फूटा था परन्तु अब यह तस्वीर साफ़ हो रही है कि ये तो महज़ छोटी मछलियाँ थीं। असल में, इससे बड़ा बुलबुला उन कॉरपोरेट घरानों द्वारा खड़ा किया गया जो अन्य बैंको पर अपनी देनदारी चुकाने के लिए एनबीएफ़सी और यस बैंक सरीखे बैंकों से क़र्ज़ ले रहे थे। अम्बानी और दिवान ग्रुप की एनबीएफ़सी भी यस बैंक से क़र्ज़ ले रही थीं। यस बैंक ने आरबीआई की सभी चेतावनियों को अनसुना कर सट्टेबाज़ी के लिए वित्तीय वर्ष 2014 से 2019 तक 334 प्रतिशत तक क़र्ज़ दिये। इस दौरान अन्य बैंको ने इस गति से क़र्ज़ नहीं दिया। इस कारण ही यस बैंक का सितम्बर 19 तक ही कुल एनपीए का प्रतिशत बढ़कर 7.34 प्रतिशत हो गया जो कि यस बैंक के आकार के बैंको के लिए सबसे अधिक था। 31 मार्च 2017 से 31 मार्च 2019 के बीच अर्थव्यवस्था के

डांवाडोल होने के बावजूद और क्रेडिट की कम माँग के बावजूद यस बैंक के क़र्ज़ 80 प्रतिशत तक बढ़ गये। 'द वायर' के के. वेणु कहते हैं कि अगर हम यह जान जायें कि वे कौन-से कॉरपोरेट घराने थे जिन्हें आर्थिक सुस्ती के दौर में, जब कोई भी अन्य कम्पनी नये निवेश के लिए क़र्ज़ नहीं ढूँढ़ रही थी, यस बैंक ने क़र्ज़ दिये, तो हम इस संकट के पीछे ज़िम्मेदार लोगों की शिनाख़्त कर सकेंगे। वैसे इन लोगों की शिनाख़्त करना आसान है। ये अनिल अम्बानी, सुभाष चन्द्रा, दिवान ग्रुप व अन्य कॉरपोरेट घराने हैं जिनपर बैंक के दिवालिया होने का कोई आरोप नहीं आयेगा।

अब जब सड़कों पर लोग बैंक से अपना पैसा निकालने को तरस रहे हैं तो सरकार और आरबीआई इसे राणा कपूर के वैयक्तिक भ्रष्टाचार के रूप में पेश कर मामले को दबाना चाहती है। परन्तु यस बैंक तो केवल शुरुआत है क्योंकि जिन बैंकों के क़र्ज़ चुकाने के लिए यस बैंक से मनचाहे क़र्ज़ लिये जा रहे थे वे भी आगे धराशाही होंगे। दूसरा, 31 मार्च तक छोटे और मध्यम उद्योग के क़र्ज़, मुद्रा क़र्ज़, बिजली कम्पनियों के क़र्ज़ और टेलीकॉम सेक्टर के बकाया क़र्ज़ भी एनपीए घोषित होने वाले हैं। और जब यह होगा तब यह संकट और विशालकाय रूप लेने वाला है। भारतीय अर्थव्यवस्था संकट के गहरे भंवर में उलझी है और फ़िलहाल इस संकट से जल्द बाहर आने की कोई उम्मीद नहीं लगती है।

इस संकट के असल कारणों की शिनाख़्त करते हुए कुछ वामपन्थी संकट को अतिउत्पादन के कारण बताते हैं। यह एक ग़लत समझदारी है। अतिउत्पादन अपने आपमें संकट का मूलभूत कारण नहीं होता है, बल्कि लक्षण होता है। संकट का मूलभूत कारण है मुनाफ़े के दर के गिरने की प्रवृत्ति। जैसा कि मार्क्स ने बताया था कि उत्पादन की कोई भी मात्रा अपने आप में "अति" या "अल्प" नहीं होती है, बल्कि मुनाफ़े की दर के अनुसार ही यह "अति" या "अल्प" होती है। मार्क्स ने कहा था कि पूँजी का आधिक्य केवल वह है जिसे मुनाफ़े की स्वस्थ दर पर निवेशित नहीं किया जा सकता है। यदि कोई अतिउत्पादन को अपने आप में संकट का मूलभूत कारण बता रहा है, तो बस वह कान को घुमाकर पकड़ने वाला अल्पउपभोगवादी है। ऐसे ही एक "क्रान्तिकारी" फ़ेसबुकिया महोदय अर्थ का अनर्थ करते हुए कहते हैं कि यह अतिउत्पादन का संकट है जिस कारण दो चीज़ें होती हैं, एक तो बाज़ार में माल नहीं बिकता है और दूसरा यह कि इससे मुनाफ़े की दर गिरने लगती है! असल में संकट का कारण पूँजीवाद में मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति का नियम है जिसके चलते नित-निरन्तर यह अर्थव्यवस्था अपने ही संकट में उलझ जाती है। यह नियम प्राकृतिक नियमों की तरह इस व्यवस्था को संकट के मुहाने पर ला खड़ा करता है। अतिउत्पादन को प्रमुख कारण बताने वालों से पहले तो सवाल यह उठता है कि अतिउत्पादन क्या होता है? क्या यह उत्पादन की ख़ास मात्रा होती है जिसे पार करने पर उत्पादन को अतिउत्पादन कहा जाये? उत्पादन की कोई भी मात्रा अपने आप में अतिउत्पादन नहीं होती है। मुनाफ़े की दर ऊँची होने पर उत्पादन की वही मात्रा उपयुक्त या कम भी हो सकती है, जोकि मुनाफ़े की दर के गिरने पर अतिउत्पादन की श्रेणी में आ जाती है। जैसा कि मार्क्स ने पहले ही बताया था कि पूँजी का आधिक्य वह आधिक्य है जिसे लाभ पर निवेश नहीं किया जा सकता है। मुनाफ़े की दर घटने के साथ ही लाभप्रद निवेश के अवसर घटते हैं। लाभप्रद निवेश के अवसर घटेंगे तो पूँजीपति वर्ग के निवेश की दर नीचे आयेगी। निवेश की दर नीचे जायेगी तो दो चीज़ें होंगी : एक ओर पूँजीपति वर्ग के बीच होने वाली ख़रीद-फ़रोख़्त कम हो जायेगी (जो मुख्य रूप से उत्पादन के साधनों की और लग्ज़री वस्तुओं की ख़रीद-फ़रोख़्त होती है) और दूसरी ओर रोज़गार में कमी आयेगी जिससे कि औसत मज़दूरी गिरेगी और इसके कारण समाज में अल्पउपभोग की स्थिति भी पैदा होगी। यह उत्पादन के दोनों विभागों (उत्पादन के साधनों का उत्पादन करने वाला विभाग और उपभोग की वस्तुओं को पैदा करने वाला विभाग) में अतिउत्पादन को जन्म देगा और दूसरी ओर समाज में अल्पउपभोग को भी। लेकिन यह संकट का नतीजा या लक्षण है, न कि उसका कारण। मुनाफ़े की दर के गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति के आधारभूत कारण को समझना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यही व्याख्या दिखलाती है कि घरेलू माँग बढ़ाकर, सरकारी ख़र्च बढ़ाकर, अवरचनागत उद्योगों में सरकारी निवेश करके, वित्तीय विनियमन या आर्थिक नियोजन करके पूँजीवादी संकट का समाधान नहीं किया जा सकता है। पूँजीवादी संकट का समाधान पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर स्थायी तौर पर सम्भव ही नहीं है और अस्थायी तौर पर यह संकट पूँजी के अवमूल्यन (डीवेलोराइज़ेशन), बेरोज़गारी के द्वारा औसत मज़दूरी के नीचे जाने, छोटी पूँजियों के ख़त्म होने और इज़ारेदारीकरण के ज़रिये "हल" होता है। लेकिन सिर्फ़ आवर्ती चक्रीय क्रम में पहले से भी ज़्यादा गम्भीर रूप में प्रकट होने के लिए। इसलिए संकट यदि एक सामाजिक और राजनीतिक संकट में तब्दील होकर क्रान्तियों और सामाजिक उथल-पुथल की ओर नहीं जाता है तो वह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक कैथार्सिस के समान भी होता है, यानी एक तकलीफ़देह शुद्धि जिसमें छोटे मालिक तबाह होते हैं, इज़ारेदारी की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, मज़दूर बेरोज़गार होते हैं, उत्पादक शक्तियों का विनाश होता है और आम मेहनतकश अवाम का जीवन पहले से मुश्किल हो जाता है। लेकिन मुनाफ़े की दर 'रीस्टोर' होने के बाद भी वही पुरानी कहानी शुरू होती है : निवेश की दर फिर से बढ़ती है, प्रतिस्पर्द्धा के कारण पूँजी का बढ़ता आवयविक संघटन, मुनाफ़े की गिरती दर, जिसे अतिरिक्त मूल्य की दर में एक सीमा तक होने वाली वृद्धि और मशीनों का अवमूल्यन बस कुछ समय के लिए रोकता है। संकट के इस पूरे मार्क्सवादी सिद्धान्त को समझना बेहद ज़रूरी है क्योंकि यह सिर्फ़ एक अकादमिक कवायद नहीं है, बल्कि एक सही राजनीतिक कार्यक्रम के निर्माण के लिए अनिवार्य है।

●

राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर एक अहम बहस के चुनिन्दा दस्तावेज़

(सम्पादकीय प्रस्तावना)

16 सितम्बर 2019 से हमारे और पंजाबी पत्रिका 'ललकार' के साथियों के बीच राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर एक अहम बहस जारी है, हालाँकि इस पूरी बहस में दूसरे पक्ष से हमें कोई जवाब अभी तक नहीं मिला है। लेकिन सकारात्मक तौर पर 'ललकार' की ओर से राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर और विशेष तौर पर पंजाबी भाषा, पंजाबी राष्ट्रीयता, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश के कतिपय अंगों के पंजाब का हिस्सा होने, हरियाणवी बोलियों, हिन्दी भाषा के इतिहास और चरित्र पर जो अवस्थितियाँ रखी जाती रही हैं, उन्हें हम भयंकर अस्मितावादी विचलन से ग्रस्त मानते हैं। यह अस्मितावादी विचलन एक अन्य बेहद अहम और आज देश में प्रमुख स्थान रखने वाले मुद्दे राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर पर भी प्रकट हुआ है, जिसमें कि 'ललकार' (और उसके सहयोगी अख़बार 'मुक्तिमार्ग') ने असम में नागरिकता रजिस्टर को घुमाफिराकर सही ठहराया है, या कम-से-कम असम में एनआरसी की माँग को वहाँ की राष्ट्रीयता के भारतीय राज्य द्वारा राष्ट्रीय दमन के कारण और प्रवासियों के आने के चलते वहाँ के संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ने का नतीजा बताया है। इस रूप में असम में एनआरसी की माँग को राष्ट्रीय भावनाओं और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, अस्मिता और भाषा की सुरक्षा की भावना की अभिव्यक्ति बताया है। यह पूरी अवस्थिति समूचे राष्ट्रीय प्रश्न पर एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी अवस्थिति से मीलों दूर है और गम्भीर राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी विचलन का शिकार है।

हमने इन अवस्थितियों की 16 सितम्बर से ही 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' के फ़ेसपुक पेज पर आलोचनाएँ पेश की हैं। इन आलोचनाओं को आम तौर पर विस्तृत निबन्धों और संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में रखा गया था। इन सारे निबन्धों और टिप्पणियों को यहाँ पेश करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक तो इनमें बहस की प्रक्रिया में कई बिन्दुओं को बार-बार दुहराया गया है और दूसरा इन सभी को एक अंक में समेट पाना सम्भव भी नहीं है। जो सुधी पाठक इन सभी निबन्धों व टिप्पणियों को पढ़ना चाहते हैं, वे पत्रिका के फ़ेसबुक पेज पर जाकर 3 फ़रवरी को डाली गयी पोस्ट को देख सकते हैं, जिसमें कि सभी निबन्धों व टिप्पणियों का लिंक दिया गया है।

हम इस अंक में इन निबन्धों के साथ साथी अभिनव का एक छोटा निबन्ध भी दे रहे हैं, जो कि इस प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को ससन्दर्भ पेश करता है।

निबन्धों के इस संकलन को हम इसलिए इस अंक में दे रहे हैं क्योंकि यह भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन को अनावृत्त करता है और इस प्रश्न पर सन्दर्भों, उदाहरणों व प्रमाणों के साथ क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को भी पेश करता है। इसलिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए इसका विशेष महत्व है, विशेष तौर पर उन पाठकों के लिए जो राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न में दिलचस्पी रखते हैं।

ये निबन्ध भाषा और राष्ट्रीयता का प्रश्न भारत में किस रूप में अस्तित्वमान है और उसके समाधान का समाजवादी कार्यक्रम के मातहत क्या रास्ता होगा, इस प्रश्न के उत्तर की कोई व्यवस्थित और व्यापक प्रस्तुति नहीं हैं। भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर हम आने वाले अंकों में कई ऐसे निबन्ध पेश करने जा रहे हैं, जो सकारात्मक तौर पर इस प्रश्न के समाजवादी समाधान का रास्ता प्रस्तावित करते हैं। यहाँ हमने क्रान्तिकारी आन्दोलन के भीतर मौजूद एक विशेष धारा की आलोचना मात्र रखी है, जो कि राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के विचलन का शिकार है। इस प्रक्रिया में टुकड़े-टुकड़े में कई नुक़्तों पर बातें रखी गयी हैं, जो कि भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न के विषय में हैं, लेकिन भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर आने वाले अंकों में हम सकारात्मक तौर पर अपनी अवस्थिति को लेखों और निबन्धों के रूप में प्रकाशित करेंगे।

हम उम्मीद करते हैं कि निबन्धों और लेखों का यह संकलन सुधी पाठकजनों को राजनीतिक रूप से शिक्षाप्रद और महत्वपूर्ण लगेगा। इन निबन्धों पर आपकी प्रतिक्रियाओं का स्वागत है। जिन निबन्धों अथवा टिप्पणियों में लेखक का नाम नहीं है, उन्हें सम्पादक मण्डल द्वारा लिखा गया है।

– सम्पादक

राष्ट्रीय दमन क्या होता है? भाषा के प्रश्न का इससे क्या रिश्ता है? मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति की एक संक्षिप्त प्रस्तुति

● अभिनव

यह प्रश्न आज कुछ लोगों को बुरी तरह से भ्रमित कर रहा है। कुछ को लगता है कि यदि किसी राज्य के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की जनता की भाषा का दमन होता है तो वह अपने आप में राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन का मसला होता है। उन्हें यह भी लगता है कि असम और पूर्वोत्तर के राज्यों में एन.आर.सी. उचित है क्योंकि यह वहाँ की जनता की राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" है और इस रूप में सकारात्मक है। तमाम क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट साथियों को यह बात सुनने में अजीब लग सकती है लेकिन यह सच है! वाक़ई वामपन्थी दायरे में अस्मितावाद के शिकार कुछ लोग हैं, जो ऐसी बात कह रहे हैं। राष्ट्रीय प्रश्न पर ऐसे लोग बुरी तरह से दिग्भ्रमित हैं। इसलिए इस प्रश्न को समझना बेहद ज़रूरी है कि दमित राष्ट्रीयता किसे कहते हैं और राष्ट्रीय दमन का मतलब क्या होता है। इस प्रश्न पर **लेनिन, स्तालिन** और तुर्की के महान माओवादी चिन्तक **इब्राहिम केपकाया** ने शानदार काम किया है।

लेनिन और स्तालिन ने राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझ की बुनियाद रखी और उसके सार्वभौमिक सिद्धान्त पेश किये। वहीं केपकाया ने इन आम सिद्धान्तों को विकसित किया और तुर्की में कुर्द जनता के राष्ट्रीय दमन और इस विषय में वहाँ के संशोधनवादियों की आलोचना करते हुए राष्ट्रीय दमन के प्रश्न पर क्लासिकीय मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को शानदार तरीक़े से पेश किया। आज पूरी दुनिया में मार्क्सवादी-लेनिनवादी राष्ट्रीय प्रश्न पर केपकाया के चिन्तन को इस पूरे प्रश्न पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद की उन्नति के तौर पर स्वीकार करते हैं। आइए देखते हैं कि केपकाया इसके बारे में क्या कहते हैं।

"शफाक संशोधनवादियों के अनुसार, ये केवल कुर्दिश जनता है जो कि राष्ट्रीय दमन का शिकार है। यह राष्ट्रीय दमन का अर्थ ही नहीं समझने के समान है। राष्ट्रीय दमन वह दमन होता है जिसमें कि दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्ग समूचे दमित, निर्भर और अल्पसंख्यक राष्ट्र को ही दमन का शिकार बनाते हैं। तुर्की में, राष्ट्रीय दमन प्रभुत्वशाली तुर्क राष्ट्र के शासक वर्ग द्वारा केवल कुर्द जनता का ही नहीं बल्कि समूचे कुर्द राष्ट्र का दमन होता है, और केवल कुर्द राष्ट्र का ही नहीं, बल्कि सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रों का दमन होता है।"

केपकाया आगे लिखते हैं :

"केवल कुर्द जनता नहीं बल्कि समूचा कुर्द राष्ट्र इस राष्ट्रीय दमन के मातहत होता है, केवल बड़े ज़मीन्दारों और बेहद थोड़े बड़े पूँजीपतियों को छोड़कर। कुर्द मज़दूर, किसान, शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग और साथ ही छोटे ज़मीन्दारों, सभी को राष्ट्रीय दमन का सामना करना पड़ता है।

"दरअसल, मूलभूत रूप में राष्ट्रीय दमन का असली निशाना अधीनस्थ और निर्भर राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग होता है क्योंकि शासक राष्ट्रों के पूँजीपति और ज़मीन्दार देश की समूची सम्पदा और बाज़ार को बिना किसी चुनौती के हड़प लेना चाहते हैं। वे राज्य सत्ता को स्थापित करने का विशेषाधिकार अपने हाथों में रखना चाहते हैं। अन्य भाषाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर, वे 'भाषाओं की एकता' लाना चाहते हैं, क्योंकि वह बाज़ार के लिए ज़रूरी होता है। दमित राष्ट्रीयता का पूँजीपति वर्ग और ज़मीन्दार

वर्ग उनके इस मक़सद में एक महत्वपूर्ण बाधा होते हैं, क्योंकि वे भी अपने बाज़ार पर अपना प्रभुत्व चाहते हैं और उसे नियंत्रित करना चाहते हैं और भौतिक सम्पदा और जनता के श्रम का ख़ुद शोषण करना चाहते हैं।

"ये वे शक्तिशाली आर्थिक कारक हैं जो दो राष्ट्रों के पूँजीपति और भूस्वामी वर्ग को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं; यही कारण है कि शासक राष्ट्र के पूँजीपति व भूस्वामी वर्ग बिना रुके राष्ट्रीय दमन के अपने प्रयासों को जारी रखते हैं; इसी से यह सच्चाई सामने आती है कि राष्ट्रीय दमन का निशाना दमित राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग होते हैं।" (इब्राहिम केपकाया, 2014, 'सेलेक्टेड वर्क्स', निसान पब्लिशिंग, पृ. 106-7)

स्तालिन के इन शब्दों पर भी ग़ौर करें :

"दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग, जो कि हर अर्थ में दबाया गया है, वह नैसर्गिक तौर पर, आन्दोलन में कूद पड़ता है।"

स्तालिन ने यह भी बतालाया है कि जिन राष्ट्रों को भाषाई दमन का सामना करना पड़ता है, लेकिन वहाँ पर सामन्ती या औपनिवेशिक दमन अनुपस्थित है, वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन विकसित ही नहीं हो पाता है, और वह साइन बोर्डों की भाषा को लेकर छोटे-मोटे झगड़ों में तब्दील होकर रह जाता है, क्योंकि राष्ट्रीय दमन का सारतत्व किसान प्रश्न और/या औपनिवेशिकीकरण के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। दोनों जुड़े हुए भी हैं क्योंकि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों में कभी भी पूँजीवादी विकास को स्वस्थ तौर पर नहीं होने देता और वहाँ के दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग के साथ मिलकर वहाँ की अर्थव्यवस्था को अर्द्धसामन्ती बनाए रखता है क्योंकि यदि उपनिवेशों में स्वतंत्र पूँजीवादी विकास हुआ तो फिर वहाँ का पूँजीपति वर्ग बाज़ार पर अपने वर्चस्व के लिए राष्ट्रीय मुक्ति का झण्डा बुलन्द करता है, और जिस हद तक किसान व सर्वहारा वर्ग का राष्ट्रीय दमन होता है उस हद तक ये मेहनतकश वर्ग भी राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होते हैं। स्तालिन के निम्न उद्धरण पर ग़ौर करें :

"सटीक तौर पर कहें तो संघर्ष पूरे के पूरे राष्ट्रों के बीच नहीं शुरू होता है, बल्कि प्रभुत्वशील देशों के शासक वर्ग और उन देशों के शासक वर्गों के बीच शुरू होता है जो कि पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये हैं। यह संघर्ष आम तौर पर दमित राष्ट्रों के निम्न-पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूँजीपति वर्ग (चेक व जर्मन), या दमित राष्ट्रों के ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के भूस्वामी वर्ग (पोलैण्ड में यूक्रेनी) के बीच होता है, या फिर दमित राष्ट्रों के समूचे 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासक कुलीन सामन्त वर्ग के बीच होता है (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन)।"

आगे देखें, स्तालिन क्या कहते हैं :

"हर रूप में दबाया गया दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग नैसर्गिक तौर पर आन्दोलन में कूद पड़ता है। यह अपने 'देशी लोगों' से अपीलें करता है और 'पितृभूमि' के बारे में शोर मचाना शुरू कर देता है; यह दावा करते हुए कि उसका लक्ष्य ही पूरे राष्ट्र का लक्ष्य है। यह अपने 'देशवासियों' के बीच से...'पितृभूमि' के हितों में एक सेना खड़ी करता है। 'लोग' भी हमेशा उसकी अपीलों का जवाब न दें ऐसा नहीं होता; वे भी उसके झण्डे तले एकत्र होते हैं : ऊपर से दमन उन्हें भी प्रभावित करता है और उनके असन्तोष को भी बढ़ावा देता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है।

"राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निर्धारित होती है कि राष्ट्र के व्यापक हिस्से, यानी कि मज़दूर और किसान वर्ग, किस हद तक इसमें हिस्सेदारी करते हैं।

"सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद के झण्डे तले जाता है या नहीं यह वर्ग अन्तरविरोधों के विकास की मंज़िल पर, सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना और उसके संगठन की मंज़िल पर निर्भर करता है। वर्ग-सचेत सर्वहारा का अपना परखा हुआ झण्डा है, और उसे पूँजीपति वर्ग के झण्डे तले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

"जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, तो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारी प्राथमिकतः दमनों के चरित्र पर निर्भर करती है। अगर दमन 'ज़मीन' को प्रभावित करते हैं, जैसा कि आयरलैण्ड में था, तो किसानों के व्यापक जनसमुदाय तत्काल राष्ट्रीय आन्दोलन के झण्डे तले गोलबन्द हो जाते हैं।"

आगे देखें :

"लेकिन, दूसरी ओर, मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया में अगर कोई रूसी-विरोधी राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ कोई रूसी ज़मीन्दार वर्ग या रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग नहीं है जो कि जनसमुदायों के बीच इस राष्ट्रवाद को हवा दे सके। जॉर्जिया में, एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद है; लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि अभी भी वहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो छोटे और अभी भी सशक्त नहीं बने जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग पर अपनी वरीयता स्थापित करके उसे आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है।

"इन कारकों के आधार पर, राष्ट्रीय आन्दोलन या तो

एक जन चरित्र अपनाता है और तेज़ी से बढ़ता है (जैसा कि आयरलैण्ड और गैलीशिया में हुआ) या फिर तुच्छ टकरावों में बदल जाता है, जो कि जल्द ही साइनबोर्डों को लेकर लड़ाइयों और 'झगड़ों' में बदल जाता है (जैसा कि बोहेमिया के छोटे शहरों में हुआ)" [कहना होगा कि ऐसा भारत में भी कुछ राज्यों में हुआ है, जैसा कि पंजाब में एक भूतपूर्व गैंगस्टर द्वारा साइनबोर्डों से हिन्दी मिटाने की मुहिम में देखा जा सकता है, हालाँकि कुछ राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार "मार्क्सवादी" भी इसे "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" मानते हैं! – लेखक] (स्तालिन, 1998, 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न', संकलित रचनाएँ, खण्ड-2, अंग्रेज़ी संस्करण, न्यू होराइज़न बुक्स, कोलकाता, पृ. 259-261)

इसी वजह से स्तालिन ने यह भी लिखा था, **"यह ग़लती उसे (सेमिच को) एक और ग़लती की ओर ले जाती है, यानी इस बात से उसका इन्कार करना कि राष्ट्रीय प्रश्न अपने सार में वस्तुतः किसान प्रश्न ही है।"** (स्तालिन, 1954, 'यूगोस्लाविया में राष्ट्रीय प्रश्न के विषय में', फ़ॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, मॉस्को)

जो लोग समूचे राष्ट्रीय प्रश्न को ही शैक्षणिक और सांस्कृतिक मसलों पर सीमित कर देते हैं, स्तालिन ने उनकी भी कठोर आलोचना की है। यदि राष्ट्रीय दमन है, तो उसका समाधान राष्ट्रीय मुक्ति और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही कर सकता है। यदि कोई किसी राष्ट्रीयता को राष्ट्रीय दमन का शिकार मानता है, तो उसे उस राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का ही सिद्धान्त देना होगा, न कि महज़ अपनी भाषा के स्कूलों का, सांस्कृतिक-भाषाई स्वायत्तता का। स्तालिन इसी सोच की आलोचना करते हुए लिखते हैं :

"बावर और रेनर जैसे ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों का मन्दबुद्धिपन इस तथ्य से ज़ाहिर होता है कि उन्हें राष्ट्रीय प्रश्न और सत्ता के प्रश्न के बीच का अविभाज्य सम्बन्ध नहीं समझ आता है, और इस तथ्य से कि वे राष्ट्रीय प्रश्न को राजनीति से अलग करने का प्रयास करते हैं और इसे सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रश्नों तक सीमित करने का प्रयास करते हैं और इस प्रक्रिया में वे साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद द्वारा ग़ुलाम बनाये गये उपनिवेशों जैसी 'क्षुद्र बातों' को भूल जाते हैं।" स्तालिन ('अक्टूबर क्रान्ति और राष्ट्रीय प्रश्न')

मैंने आपके सामने केपकाया और स्तालिन के ये लम्बे उद्धरण सिर्फ़ इसलिए पेश किये क्योंकि राष्ट्रीयता के प्रश्न और राष्ट्रीय दमन के अर्थ के विषय में ये मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को इतने सटीक और सारगर्भित तरीक़े से पेश करते हैं, कि ज़्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन फिर भी कुछ बातें कहूँगा।

यदि आपके सामने कोई किसी भी राष्ट्रीयता के दमन के प्रश्न को रखता है, तो **सर्वप्रथम यह सवाल उठाइए कि क्या (उस राष्ट्रीयता के बड़े दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती ज़मीन्दार वर्ग के अतिरिक्त) वह समूचा राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा दमन का शिकार है?** इसे इस रूप में भी समझ सकते हैं कि भारत और 'तीसरी दुनिया' के कई देशों की जनता को साम्राज्यवादी देशों का इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग लूटता है, लेकिन इसकी वजह से ही 'तीसरी दुनिया' के ये देश दमित राष्ट्रीयता या नवउपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश नहीं बन जाते, क्योंकि इन देशों का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवादी देशों के इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग द्वारा दमित-शोषित नहीं है, बल्कि उसका 'जूनियर पार्टनर' है। यदि महज़ आम जनता के शोषण-उत्पीड़न के आधार पर राष्ट्रीय दमन माना जायेगा, तो फिर तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के कई देश राष्ट्रीय दमन के शिकार उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश माने जायेंगे, जो कि यथार्थ के बिल्कुल विपरीत होगा। इसलिए कोई राष्ट्र दमित है या नहीं इसका सबसे प्रमुख आधार यह है कि दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा उस समूचे राष्ट्र का दमन होता है, जिसमें कि पूँजीपति वर्ग भी शामिल है। केवल दलाल वर्ग इस दमन के दायरे से बाहर होते हैं, यानी कि बड़ा व्यापारिक व नौकरशाह दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग। यदि ऐसा नहीं है तो वहाँ भाषाई दमन की समस्या हो सकती है (जिसके अपने ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं), या कोई अन्य समस्या हो सकती है, लेकिन वह राष्ट्रीय दमन नहीं कहा जा सकता है। राष्ट्रीय दमन होने पर भाषा का भी दमन होना लाज़िमी है। लेकिन भाषा का दमन हर मामले में अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं होता है। भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के भीतर कुछ राष्ट्रीय अस्मितावादी हैं, जो पंजाबी भाषा के साथ अन्याय के आधार पर पंजाबी राष्ट्रीयता को भी एक दमित राष्ट्रीयता क़रार देते हैं। वे अगर वाक़ई में अपने आपको मार्क्सवदी-लेनिनवादी मानते हैं तो उन्हें भी यही सवाल पूछना चाहिए कि **क्या पंजाब में कोई दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग है, जिसे छोड़कर समूचा पंजाबी राष्ट्र (पूँजीपति वर्ग समेत) किसी अन्य राष्ट्र के शासक वर्ग द्वारा दमन का शिकार है? यानी, क्या पंजाब का पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय दमन का शिकार है? यदि हाँ, तो उसकी सही-सही पहचान की जानी चाहिए। इसके अलावा यह भी बताया जाना चाहिए कि दमनकारी राष्ट्र कौन है जिसके शासक वर्ग इस राष्ट्रीय दमन को अंजाम दे रहे हैं? इसके बिना, यदि कोई राष्ट्रीय दमन की बात**

करते हुए पंजाबी राष्ट्र को दमित राष्ट्रीयता क़रार देता है, तो फिर वह पूँजीवादी राष्ट्रवादी अवस्थिति से ही सम्भव है, सर्वहारा अवस्थिति से क़तई नहीं। ऐसे लोगों को स्तालिन व इब्राहिम केपकाया का राष्ट्रीय प्रश्न पर जो कार्य है, उसे अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

दूसरी बात यह कहूँगा कि जिस आधार पर ऐसे लोग राष्ट्रीय दमन का दावा कर रहे हैं, उसके अनुसार, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाना, तमिलनाडु, आदि सभी ग़ैर-हिन्दीभाषी प्रदेश राष्ट्रीय दमन का शिकार हैं। ऐसे में, इन सभी राष्ट्रों के समक्ष जो राजनीतिक चरण है, वह है राष्ट्रीय मुक्ति का, यानी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का और भारत में क्रान्ति का या तो कोई अर्थ नहीं होगा या यह अर्थ होगा कि भारत की क्रान्ति भी जनवादी होगी और इन सभी राष्ट्रीयताओं की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का योग होगी। यह कार्यदिशा बहुत तेज़ी से पार्टी के संघीय मॉडल और बुण्डवाद की तरफ़ जाती है। ऐसी ही बात भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में एक समय में के. वेणु नामक एक व्यक्ति ने की थी। उनका राजनीतिक निर्वाण क्या हुआ, यह आप स्वयं ही सन्धान कर लें, हम कभी आगे उस पर विस्तार से लिखेंगे और मौजूदा अस्मितावादी रुझान से उसकी कुछ समानताओं की भी चर्चा करेंगे। ताज्जुब नहीं होगा कि आज जो लोग राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार हैं, कल उनका हश्र भी वही हो। यह भी याद रखना चाहिए कि चोरी-छिपे कार्यदिशा को धीरे-धीरे बदलते जाने से कभी कोई विच्युति या विचलन दूर नहीं होता है, बल्कि नयी विच्युतियों और विचलनों को ही जन्म देता है, जो कालान्तर में क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से प्रस्थान में भी तब्दील हो जाती है।

यह भी याद रखना ज़रूरी है, जैसा कि लेनिन ने कहा भी था, कि किसी बहुराष्ट्रीय देश में आम तौर पर सबसे बड़े भाषाई समुदाय की भाषा आर्थिक और ऐतिहासिक कारणों से सम्पर्क भाषा बन जाती है, बशर्ते कि राज्यसत्ता उसे थोपने का प्रयास न करे। जहाँ एक ओर हमें कहीं भी और किसी भी नागरिक पर किसी भी राज्य में कोई भी भाषा थोपने का विरोध करना चाहिए, वहीं हमें उस नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया का भी प्रतिक्रियावादी तरीक़े से विरोध नहीं करना चाहिए, जहाँ बिना किसी दबाव के कोई भाषा या चन्द भाषाएँ सम्पर्क भाषा के रूप में उभरें। लेनिन ने स्वयं बताया था कि किसी भी बहुराष्ट्रीय देश में आम तौर पर बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा का पूँजीवादी विकास के साथ ही एक सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरना एक नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है। यदि राज्यसत्ता द्वारा इसे ज़बरन सम्पर्क भाषा बनाया जाये तो क़तई इसका विरोध किया जाना चाहिए। दूसरे, इस प्रकार थोपे जाने से इस भाषा का ही नुक़सान होता है, जैसा कि लेनिन ने रूसी भाषा के सन्दर्भ में दिखलाया भी। लेनिन ने दिखलाया कि यदि रूसी भाषा को थोपा नहीं जाता तो यह नैसर्गिक तौर पर समूचे रूसी बहुराष्ट्रीय राज्य में एक सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरती और यदि स्विट्ज़रलैण्ड के समान ही वहाँ एक जनवादी राजनीतिक व्यवस्था होती तो यह अन्य भाषाओं के दमन या उनके पिछड़ने का कारण भी नहीं बनता। यदि ऐसे किसी राज्य में बिना किसी दबाव के कोई भाषा सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरती है, तो इस स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया का विरोध करना ग़लत और प्रतिक्रियावादी है। यह कम्युनिस्टों का काम नहीं है। भारत में हमें हर प्रान्त में उस प्रान्त के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कार्रवाई के उस समुदाय के अधिकार के लिए भी संघर्ष करना चाहिए और साथ ही उस प्रान्त में रहने वाले (प्रवासियों समेत) सभी लोगों पर बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा को थोपे जाने का भी क़तई विरोध करना चाहिए। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथी महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना के राज ठाकरे के पदचिह्नों पर चलते हुए यह भी कह रहे हैं कि प्रवासियों को उस राज्य के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा सिखायी जानी चाहिए, इस भाषा को सभी के लिए शिक्षा का बाध्यताकारी माध्यम बना दिया जाना चाहिए और इसे राज्य में रोज़गार की पूर्वशर्त बना दिया जाना चाहिए। ये सारी माँगे सर्वहारा-विरोधी और टटपुँजिया राष्ट्रवादी माँगें हैं। हमें हर प्रान्त में हरेक नागरिक के लिए उसकी मातृभाषा या उसकी पसन्द की भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कार्रवाई के हक़ के लिए संघर्ष करना चाहिए। कोई अगर इसे अव्यावहारिक मानता है, तो एक बार देख लेते हैं कि लेनिन इस विषय में क्या कहते हैं :

"लेकिन हमसे पूछा जा सकता है कि सेण्ट पीटर्सबर्ग में 48,076 स्कूली बच्चों में एक जॉर्जियन बच्चे के हितों को समान अधिकारों के आधार पर सुरक्षित किया जाना क्या सम्भव है? और हमें जवाब देना चाहिए कि जॉर्जियाई 'राष्ट्रीय संस्कृति' के आधार पर सेण्ट पीटर्सबर्ग में एक विशेष जॉर्जियाई स्कूल की स्थापना करना असम्भव है, और यह कि ऐसी योजनाओं की वकालत करना जनता के बीच ज़हरीले

विचारों के बीज बोने के समान है।

"लेकिन हम किसी नुक़सानदेह चीज़ का बचाव नहीं कर रहे होंगे, या किसी असम्भव चीज़ के लिए संघर्ष नहीं कर रहे होंगे, अगर हम यह माँग करते हैं कि उस बच्चे को उसी सरकारी स्कूल में ही जॉर्जियाई भाषा, जॉर्जियाई इतिहास, आदि पर व्याख्यान मिलने चाहिए, कि उसे केन्द्रीय पुस्तकालय से जॉर्जियाई पुस्तकें मिलने का प्रावधान होना चाहिए, और यह कि राज्यसत्ता को एक जॉर्जियाई शिक्षक रखने के लिए योगदान देना चाहिए, वग़ैरह।...यह वास्तविक जनवाद तभी हासिल हो सकता है, जबकि सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूर एकजुट हों।" (लेनिन, 'रूसी स्कूलों में विद्यार्थियों की राष्ट्रीयता')

यानी महाराष्ट्र में कन्नड़ छात्रों के लिए सरकारी स्कूलों में कन्नड़ शिक्षक, बिहार, यूपी, मध्यप्रदेश के छात्रों के लिए हिन्दी शिक्षक, पंजाब में यूपी, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ के बच्चों के लिए हिन्दी शिक्षक, उड़ीसा के बच्चों के लिए उड़िया शिक्षक मुहैया कराने की माँग एक सही सर्वहारा माँग है, न कि इन बच्चों पर मराठी या पंजाबी थोप देने ("सिखाने") की माँग। इन प्रदेशों में इन बच्चों का जीवन, उनका आर्थिक-राजनीतिक क्रिया-व्यापार यदि उनसे यह माँग करेगा कि वे मराठी या पंजाबी सीखें, तो वे बिना किसी बाध्यताकारी नियम या दबाव के ये भाषाएँ सीखेंगे, जैसा कि लेनिन ने बताया था। अब आप स्वयं राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादियों द्वारा इस प्रश्न पर अपनायी जा रही अवस्थिति से लेनिन की अवस्थिति की तुलना कर सकते हैं। इन राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथियों की अवस्थिति को जानने के लिए आप यह लिंक देख सकते हैं जिसमें हमने उनकी समूची अवस्थिति को सप्रमाण प्रस्तुत किया है : https://www.facebook.com/notes/3314490178567267 और https://www.facebook.com/notes/3325215700828048/.

तीसरी बात, ऐसे लोग यह भी कह रहे हैं कि उत्तर-पूर्व के राज्यों में एनआरसी का समर्थन और नागरिकता संशोधन क़ानून का विरोध वहाँ की "राष्ट्रीय अस्मिता को ख़तरे" और "राष्ट्रीय दमन" के कारण हो रहा है। इसके बारे में भी ठीक ऊपर दिये गये लिंक में आपको सन्दर्भ मिल जायेगा और ऐसा वे अपनी पत्र-पत्रिकाओं में लिख भी रहे हैं। या तो इन लोगों ने उत्तर-पूर्व के राज्यों का इतिहास ढंग से नहीं पढ़ा है, या फिर वे अपनी राष्ट्रीय कट्टरतावादी कार्यदिशा को वैध ठहराने के लिए हवा में तीर चला रहे हैं। ये दोनों ही मसले क्या हैं, इन्हें ठीक से समझ लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि नागरिकता संशोधन क़ानून का विरोध पूरे देश में हो रहा है, और असम समेत उत्तर-पूर्व के भी कई राज्यों में हो रहा है। **लेकिन पूर्वोत्तर के तमाम राज्यों में इस विरोध के दो हिस्से हैं। एक हिस्सा तो वह है जो कि सही कारणों के लिए सीएए का विरोध कर रहा है। यानी कि वह हिस्सा जिसका मानना है कि किसी भी सेक्युलर राज्य को नागरिकता देने के लिए किसी भी धर्म को आधार नहीं बनाना चाहिए और पीड़ित व उत्पीड़ित लोगों को, यदि वे पनाह माँगें तो मानवतावादी आधार पर नागरिकता व पनाह देनी चाहिए, जैसाकि कई यूरोपीय देशों, ऑस्ट्रेलिया वग़ैरह में है भी।** हर देश में कम्युनिस्टों को अन्तरराष्ट्रीयतावादी, जनवादी और सेक्युलर मानकों से ऐसे किसी भी नागरिकता क़ानून का समर्थन करना चाहिए जो कि हर प्रकार के सताए गये और पीड़ित लोगों को अपने देश में आने की आज्ञा देता है, उन्हें पनाह देता है और उन्हें नागरिकता देता है। यह क़तई सही माँग है। **सीएए की हमारी मुख़ालफ़त इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि बाहरी लोगों को नागरिकता क्यों दी जा रही है (जैसा कि असम व कुछ पूर्वोत्तर राज्यों के कट्टरपन्थी व प्रवासी-विरोधी अन्धराष्ट्रवादी कर रहे हैं), बल्कि इस आधार पर निर्भर करती है कि नागरिकता देने में धर्म के आधार पर या नस्ल के आधार पर या किसी भी क़िस्म की फ़िरकापरस्ती के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। जिन कम्युनिस्टों को इतनी सीधी सी बात समझ में नहीं आती है, उन्हें कम्युनिज़्म के सिद्धान्त तो पढ़ने की बुरी तरह से दरकार है ही, साथ ही उन्हें जनवाद और मानवतावाद के भी बुनियादी सिद्धान्तों में अपना प्रशिक्षण करने की आवश्यकता है।** यहीं से हम दूसरे प्रकार के कट्टरपन्थी अन्धराष्ट्रवादियों पर आते हैं। दूसरा हिस्सा वह है जो कि इन राज्यों के राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय कट्टरतावादी (chauvinist) और प्रवासी-विरोधी (xenophobic) हिस्सा है। इस बाद वाले धड़े का सीएए-विरोध इस चीज़ पर टिका हुआ है कि इस क़ानून के द्वारा हिन्दू प्रवासियों को नागरिकता देने से असम व कुछ अन्य पूर्वोत्तर राज्यों की राष्ट्रीय अस्मिता ख़तरे में पड़ जायेगी और वहाँ के संसाधनों पर ज़्यादा दबाव पड़ जायेगा। इस पूरे अतार्किक आधार पर **साथी आनन्द सिंह** ने एक बहुत ही अच्छा लेख लिखा है, जिसे आप 'आह्वान' के मौजूदा अंक में पृष्ठ सं. 80 पर पढ़ सकते हैं। इसी प्रकार, एनआरसी का इस राष्ट्रवादी कट्टरपन्थी धड़े द्वारा समर्थन भी इसी आधार पर टिका है कि इसके ज़रिये सभी "ग़ैर-क़ानूनी प्रवासियों" की पहचान करके उन्हें बाहर किया जा सकेगा। पूर्वोत्तर में मौजूद इन कट्टरपन्थी व प्रवासी-विरोधी तत्वों द्वारा सीएए का एक

ग़लत आधार पर विरोध और एनआरसी का समर्थन समझा जा सकता है, हालाँकि जिन लोगों ने आल असम स्टूडेण्ट्स यूनियन की शुरुआत की थी और एनआरसी की सर्वप्रथम माँग की थी, वे भी आज इस बात को समझ रहे हैं कि यह माँग ही ग़लत थी और दुश्मन प्रवासी नहीं हैं, बल्कि भारतीय राज्यसत्ता और पूँजीवादी तंत्र है। **लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के भीतर भी कुछ राष्ट्रीय कट्टरपन्थ के शिकार तत्व हैं, जिन्हें पूर्वोत्तर के कट्टरपन्थी राष्ट्रवादियों से हमदर्दी महसूस होती है, क्योंकि उन्हें अपने राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और भाषाई अस्मितावाद को सही ठहराना है।** बस दिक़्क़त यह है कि राष्ट्रीय अस्मितावाद और कट्टरपन्थ की दुनिया में आने में उन्होंने काफ़ी देर कर दी, यहाँ पहले से ही काफ़ी भसड़ है! असम में सीएए के विरोध और एनआरसी के समर्थन के पीछे वहाँ के आन्दोलन में मौजूद एक कट्टरपन्थी और प्रवासी-विरोधी धड़े पर मैं साथी आनन्द के लेख को पढ़ने का आग्रह करूँगा। (पृष्ठ सं. 80)

आख़िरी बात हम लेनिन के कुछ विचारों के साथ कहेंगे। लेनिन ने सबसे पहले यह सवाल पूछा कि कम्युनिस्टों को किन सूरतों में राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होना चाहिए और उन्हें नेतृत्व देना चाहिए। **इसका पहला जवाब तो यही था कि जब वास्तव में उपरोक्त पैमानों पर राष्ट्रीय दमन हो रहा हो। और दूसरा जवाब यह था कि जहाँ कहीं जनसमुदाय राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष नहीं कर रहे हैं, यानी कि जहाँ सम्पूर्ण अर्थों में राष्ट्रीय दमन है ही नहीं, वहाँ पर राष्ट्रीय आन्दोलन की स्थापना करना और राष्ट्रीय भावनाएँ जगाना कम्युनिस्टों का काम नहीं है।** लेनिन लिखते हैं कि पहली बात तो यह कि राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध केवल राष्ट्रीय मुक्ति व राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही वाजिब है न कि भाषाई, शैक्षणिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता का कार्यक्रम, जैसा कि हमारे देश के राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार कुछ साथी कह रहे हैं। लेनिन जो दूसरी बात कहते हैं, वह यह है, जिस पर ख़ास तौर पर ग़ौर करने की आवश्यकता है :

"(आत्मनिर्णय का) हमारा कार्यक्रम केवल उन मामलों पर लागू होता है, जहाँ (अलग होने के लिए) ऐसा एक आन्दोलन अस्तित्वमान है।" (लेनिन, 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार')

लेनिन ने यहाँ एक बेहद अहम बात कही है जिस पर बहुत क़रीबी से ग़ौर किये जाने की ज़रूरत है। कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी नहीं होते हैं, बल्कि वे दमित राष्ट्रीयता की राष्ट्रीय मुक्ति के समर्थक होते हैं, उसके लिए लड़ते हैं और उस लड़ाई को सर्वहारा नेतृत्व देने का प्रयास करते हैं। यदि कहीं पर सही मायने में राष्ट्रीय दमन है ही नहीं, तो भी, विशेष तौर पर एक बहुराष्ट्रीय देश में तमाम राष्ट्रों के टटपुँजिया वर्गों की राजनीति का एक हिस्सा होता है, जो कि राष्ट्रीय दमन की बात करता रहता है। सही मायने में राष्ट्रीय दमन क्या है, इसके बारे में हम ऊपर स्तालिन और केपकाया के विचारों के ज़रिये अपनी बात कह चुके हैं। कई बार कई कम्युनिस्ट शक्तियाँ भी इस प्रकार की टटपुँजिया राष्ट्रवादी राजनीति के असर में आ जाती हैं। यदि कहीं सही मायने में राष्ट्रीय दमन नहीं है और जनता के व्यापक जनसमुदाय किसी राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष में आन्दोलित ही नहीं हैं, तो यह कम्युनिस्टों का कार्य नहीं होता है कि वह "राष्ट्रीय भावनाएँ" जगायें। लेनिन की उपरोक्त पूरी रचना ही पढ़ने योग्य है। इससे राष्ट्रीय प्रश्न पर बहुत से भ्रम दूर हो जाते हैं।

अन्त में, यही कहना चाहिए कि यदि कोई राष्ट्रीय दमन का मसला उठाता है, तो उसे उपरोक्त पैमानों पर जाँचा जाना चाहिए। क्या किसी राष्ट्रीयता का पूँजीपति वर्ग और उसके समेत समूची राष्ट्रीयता दमित है? यदि नहीं, तो वह राष्ट्र दमित राष्ट्र नहीं है। बेशक, उस राष्ट्र की भाषा के सामने दमन या संकट की स्थिति हो सकती है और कम्युनिस्ट उसके विरुद्ध भाषाई समानता के लिए संघर्ष भी करेंगे, लेकिन वह राष्ट्रीय दमन नहीं होता है। लेकिन भाषा के प्रश्न पर भी संघर्ष अस्मितावादी और कट्टरतावादी ज़मीन से होगा तो यह मज़दूर वर्ग की एकजुटता (जो वास्तव में एक तथ्य हो सकती है, या फिर एक सम्भावना सम्पन्नता, लेकिन इससे हमारे तर्क पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है) को ही नुक़सान पहुँचायेगा, जैसा कि हमारे देश में राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार कुछ मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों की कार्यदिशा से होने का पूरा ख़तरा मौजूद है। दूसरी बात, यदि हम किसी राष्ट्रीयता के दमन की बात कर रहे हैं तो हमें दूसरी बात यह भी बतानी पड़ेगी कि किस राष्ट्र के शासक वर्ग इस राष्ट्रीय दमन को अंजाम दे रहे हैं। तीसरी बात, भाषा के प्रश्न पर और भाषाई दमन के प्रश्न पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति का अर्थ क्या है। इन्हीं तीन प्रश्नों पर मैंने संक्षेप में यहाँ क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अवस्थिति को स्तालिन, केपकाया और लेनिन के विचारों की मदद से पेश किया है। आगे जल्दी ही भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर और भाषा के प्रश्न पर विस्तृत शोध निबन्ध के साथ अपनी बात रखूँगा, हालाँकि 'आह्वान' के मौजूदा अंक में उस अवस्थिति के कई नुक़्ते कुछ आलोचनात्मक निबन्धों में भी मौजूद हैं।

●

भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार ‘ललकार’ के साथियों से चली हमारी बहस में दोनों पक्षों की अवस्थितियाँ : एक महत्वपूर्ण याददिहानी

● **सम्पादक मण्डल, 3 फ़रवरी 2020**

साथियो,

आपको याद होगा कि सितम्बर 2019 में पंजाब के ‘ललकार’ पत्रिका के भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों से ‘आह्वान’ की एक बहस चली थी। अब भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी अपने गोलपोस्ट को शिफ़्ट करते जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर, वे कह रहे हैं कि ‘हमने यह तो कहा ही नहीं, हमने वह तो कहा ही नहीं’, वग़ैरह। इस सूरत में भाषा और राष्ट्रीयता के इन अहम प्रश्नों पर एक स्वस्थ बहस चल सके इसके लिए हम सभी साथियों के सामने इस बात की याददिहानी कर रहे हैं कि अस्मितावादी भटकाव से ग्रस्त हमारे ‘ललकार’ के साथियों ने क्या कहा था और क्या नहीं। इसके लिए हम इनके द्वारा आयोजित ‘माँ बोली सम्मेलन’ में पारित माँगपत्रक और इनकी पत्रिका ‘ललकार’ के माँ बोली विशेषांक के लेखों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसकी पीडीएफ़ फ़ाइल का लिंक यहाँ है। *(इस लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज पर इस पोस्ट को देखें – सम्पादक)* इसके अलावा, हम ‘ललकार’ के आधिकारिक फ़ेसबुक पेज द्वारा शेयर की गयी कुछ पोस्ट्स को भी यहाँ साझा कर रहे हैं *(लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज को देखें – सम्पादक)*, जिससे कि यह साफ़ हो जाये कि ‘ललकार’ की मूल अवस्थिति क्या थी। साथ ही हम अपने द्वारा पेश समूची आलोचना को भी यहाँ दुबारा शेयर कर रहे हैं, जिसकी पीडीएफ़ फ़ाइल का लिंक यहाँ है – *(लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज को देखें – सम्पादक)*।

चूंकि यह सारी सामग्री अब एक जगह पर है, इसलिए सभी साथियों को सुविधा होगी। हम याद दिला दें कि भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने अपनी पत्रिका के उक्त विशेषांक, अपने माँ बोली सम्मेलन और अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से और बाद में इनके तमाम लोगों ने जो बातें कहीं हैं, उनमें निम्न अवस्थितियाँ अपनायी गयी थीं :

1. पंजाब व पंजाबीभाषी बहुल इलाक़ों में समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण, सरकारी कामकाज, यहाँ तक कि सारा ग़ैर-सरकारी कामकाज आदि ***सिर्फ़*** पंजाबी भाषा में ही होना चाहिए। यानी कि कारख़ानों और खेतों और अन्य कार्यस्थलों में काम करने वाले लाखों प्रवासियों के लिए भी पंजाबी सीखने को एक पूर्वशर्त बना दिया जाये। हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी जोगा सिंह विर्क के पंजाबी भाषा की “सरदारी” (वर्चस्व) को सुनिश्चित करने के लिए दिये गये सुझावों का आधिकारिक तौर पर ‘ललकार’ के फ़ेसबुक पेज द्वारा अनुमोदन करते हैं, जिसमें एक माँग यह भी है कि न सिर्फ़ पंजाब सरकार के सभी दफ़्तरों में, बल्कि पंजाब में केन्द्र सरकार के भी सभी दफ़्तरों में केवल पंजाबी भाषा में कामकाज होना चाहिए। इसमें लिखा गया है, “पंजाब का *सरकारी ग़ैर-सरकारी सारा काम-काज पंजाबी* में करवाएँ। केन्द्र सरकार के नौकरियों/दाख़िलों की *सारी परीक्षाएँ पंजाबी में* करवाएँ। केन्द्र सरकार के पंजाब में स्थित *सारे दफ़्तरों को पंजाबी में* काम करने पर लगवाएँ।” ‘ललकार’ की यह पोस्ट जो कि जोगा सिंह विर्क के सुझावों को रखती है, पीडीएफ़ फ़ाइल में है।

2. पंजाब में पंजाबी भाषा को रोज़गार के लिए पूर्वशर्त बनाया जाना चाहिए। ‘ललकार’ के अंक 1 से 15 मई 2019 में छपे लेख “पंजाबी भाषा के ख़ात्मे की हुक्मरानों की साज़िशों के विरुद्ध संघर्ष के लिए आगे आओ!” में यह कहा गया है – “पंजाबी को सरकारी कामकाज और रोज़गार की भाषा बनाने के लिए संघर्ष शुरू किया जाये। जब तक पंजाबी रोज़गार की भाषा नहीं बनती, इस संकट से बचा नहीं जा सकता।” इसके अलावा माँ-बोली कन्वेंशन के लिए तैयार की गयी दफ़्ती पर साफ़ लिखा है, “रोज़गार की भाषा पंजाबी बनाओ”। इस दफ़्ती का फ़ोटो ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज पर इस पोस्ट के नीचे क्मेंट में देखा जा सकता है।

ग़ौरतलब है कि पंजाब में राज्य स्तरीय नौकरियों में पंजाबी भाषा पहले से ही पूर्वशर्त है। “GOVERNMENT OF PUNJAB DEPARTMENT OF PERSONNEL AND ADMINISTRATIVE REFORMS (PERSONNEL POLICIES BRANCH-1) NOTIFICATION The 4th May, 1994” का यह अंश पढ़ें –

“Knowledge of Punjabi Language. – No person shall be appointed to any post in any

service by direct appointment unless he has passed Matriculation Examination with Punjabi as one of the compulsory or elective subjects or any other equivalent examination in Punjabi Language, which may be specified by the Government from time to time: Provided that where a person is appointed on compassionate grounds on priority basis under the instructions issued in this behalf by the Government from time to time, the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of six months from the date of his appointment: Provided further that where educational qualifications for a post in any service are lower than the Matriculation standard, then the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Middle standard: Provided further that where a War Hero, who has been discharged from defence service or para-military forces on account of disability suffered by him or her widow or dependent member of his family, is appointed under the instructions issued in this behalf by the Government, the person so appointed will not be required to possess aforesaid knowledge of Punjabi language: Provided further that where a ward of Defence Service Personnel, who is a bona fide resident of Punjab State, is appointed by direct appointment, he shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation Standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of two years from the date of his appointment."

यानी कि पंजाब राज्य सरकार की नौकरियों में पंजाबी भाषा का ज्ञान पहले ही एक पूर्वशर्त है। ऐसे में, 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों द्वारा 'रोज़गार की भाषा को पंजाबी बनाओ' की माँग का क्या अर्थ है? इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं : **पहला,** इसे निजी क्षेत्र की नौकरियों और केन्द्र सरकार की नौकरियों पर भी लागू करो, और **दूसरा,** पंजाब में रहना और काम करना है, तो पंजाबी भाषा का ज्ञान *अनिवार्य* बना दिया जाये। अब स्वयं सोचें कि क्या किसी भी दृष्टिकोण से यह माँग सर्वहारा माँग हो सकती है? यह भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद नहीं है, तो और क्या है?

3. 'ललकार' के भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथियों का अस्मितावाद किस स्तर पर पहुँच गया है, उसकी एक बानगी आपको इस मिसाल से मिल जायेगी। 2017 में पंजाब के एक पूर्व गैंगस्टर और अब राजनीति में अपना सिक्का चमकाने के आकांक्षी लक्खा सिधाना के संगठन "माँ बोली सतिकार कमेटी" द्वारा पंजाब में हाइवे पर लगे साइनबोर्डों पर हिन्दी और अंग्रेज़ी में लिखे जगह के नामों पर कालिख पोतने की मुहिम चलायी गयी। 'ललकार' के 1 से 15 नवम्बर 2017 अंक के सम्पादकीय में यह कहते हुए इसे जायज़ ठहराया गया –

"...इस भेदभाव के विरुद्ध कालिख पोतने के रूप में असन्तोष का इज़हार एक स्वागतयोग्य क़दम है। यह बात सही है कि भाषाई ज़ुल्म के विरुद्ध लड़ाई केवल इन्हीं रोड-साइनों तक महदूद नहीं होनी चाहिए बल्कि आगे भी बढ़नी चाहिए। पर केवल इसी नुक़्ते के कारण इस पूरी मुहिम का विरोध नहीं किया जाना चाहिए बल्कि लोगों की भावनाएँ इसी तरह ही अचानक किसी घटना के रूप में फूटती हैं जिन्हें आगे सही दिशा देना और आगे बढ़ाना समाज के चेतनासम्पन्न तबक़े की ज़िम्मेदारी होती है।..." अब ज़रा कल्पना करें। दिल्ली में हिन्दीभाषी बहुसंख्या में हैं, इस वजह से क्या दिल्ली के साइनबोर्डों पर पंजाबी में लिखे गये निर्देशों पर कालिख पोत देनी चाहिए? क्या अंग्रेज़ी में लिखे गये निर्देशों पर कालिख पोत देनी चाहिए? फिर नॉर्थईस्ट से आने वाले हज़ारों प्रवासी किस प्रकार इन्हें पढ़ पायेंगे? क्या किसी बहुभाषी और भारी आन्तरिक प्रवास (30 प्रतिशत!) वाले देश में इस प्रकार की भाषाई कट्टरता का कोई कम्युनिस्ट समर्थन कर सकता है?

4. इनका मानना है कि जीन्द, हिसार, सिरसा, फतेहाबाद ज़िले मूलतः पंजाबी भाषी हैं, और उन्हें पंजाब में शामिल करने के लिए 1966 के भाषाई पुनर्गठन को रद्द करके फिर से भाषाई पुनर्गठन किया जाना चाहिए। 'ललकार' के अंक 16 अक्टूबर 2019 में छपे लेख "हरियाणा में पंजाबी लोग और पंजाबी मातृभाषा का मसला" का एक अंश – "1966 में पंजाब का भाषाई आधार पर फिर से विभाजन हुआ तो इस विभाजन का आधार भी भाषाई न होकर साम्प्रदायिक हो गया। राजनीतिक जोड़-तोड़ के कारण बहुत सारे अब के पंजाब के साथ लगते पंजाबी बोलते इलाक़े हरियाणा में शामिल कर लिये गये। अलग पंजाब बनाने के लिए मोर्चा लगाने वाले अकाली दल ने भी जानकारी होते हुए भी इन पंजाबी बोलते इलाक़ों पर दावा नहीं जताया। दरअसल 1966 का विभाजन ज़िलों के हिसाब से हुआ था। जो ज़िलों

की बहुसंख्या की भाषा थी, उसे उस हिसाब से पंजाब या हरियाणा में मिला दिया गया। हरियाणा के ज़िला सिरसा (जोकि 1975 में ज़िला बना) और ज़िला फतेहाबाद (जोकि 1997 में ज़िला बना) 1966 के विभाजन के समय ज़िला हिसार का हिस्सा थे। उस समय के हिसाब से ज़िले में आधी से ज़्यादा आबादी पंजाबी बोलती थी, भारत सरकार बागड़ी को पंजाबी की उपभाषा मानती है। अगर जिनकी मातृभाषा बागड़ी है उन्हें भी पंजाबी के दायरे में रखें तो उस समय के हिसार ज़िले में पंजाबी भाषाई आबादी तीन-चौथाई से बढ़ जाती है, पर फिर भी उसे हरियाणा में मिलाया गया। अकालियों ने भी इस पर विरोध ज़ाहिर नहीं किया क्योंकि ज़िला हिसार की बहुसंख्या हिन्दू थी और अकालियों को राजनीति जोड़-तोड़ के इधर-उधर हो जाने का डर था। उस समय का ज़िला करनाल जोकि आज के ज़िले कुरुक्षेत्र, कैथल आदि को मिलाकर बनता था उसका विभाजन भी ज़िला हिसार की तरह ही हुआ था। पर हैरानी की बात है कि उस समय का पेपसू का इलाक़ा (जिसमें आज के ज़िला संगरूर, जीन्द आदि पड़ते हैं) मुख्य तौर पर पंजाबी बोलता था और करनाल व हिसार ज़िले को हरियाणा में शामिल किये जाने के आधार पर पेपसू का पूरा इलाक़ा पंजाब का हिस्सा बनता था पर इसे पंजाब और हरियाणा के दरमियान दो हिस्सों (पंजाब में संगरूर और हरियाणा में जीन्द) में विभाजित कर दिया गया। या तो करनाल और हिसार के लिए भी यही पैमाना अपनाया जा सकता था या फिर सही ढंग से देखा जाये तो ये ज़िले पंजाब का हिस्सा बनते थे पर भारतीय हुक्मरान पंजाब राज्य को कम से कम इलाक़े तक सीमित कर देना चाहते थे। भारतीय हुक्मरानों की घटिया चालों और अकालियों के राजनीतिक जोड़-तोड़ के कारण पंजाबी बोलता बड़ा इलाक़ा हरियाणा का हिस्सा बना दिया गया जहाँ से हिन्दी थोपे जाने का सिलसिला शुरू हुआ और बदस्तूर जारी है।" इसी लेख का एक और अंश – "...अन्तिम बात यह है कि इस सब का बुनियादी कारण 1966 का अन्यायपूर्ण विभाजन है, इसलिए भाषाई आधार पर इलाक़ों का सही ढंग से विभाजन हो।" हम 'आह्वान' द्वारा पेश की गयी गयी आलोचना में सन्दर्भों समेत दिखा चुके हैं कि बागड़ी पंजाबी की बोली नहीं है बल्कि हरियाणवी, राजस्थानी व पंजाबी की सेतु बोली है, जिसमें लेक्सिकल निकटता सर्वाधिक हरियाणवी के साथ है। दूसरी बात, इस प्रकार की बात ही करना कि "भारतीय हुक्मरान पंजाब राज्य को कम से कम इलाक़े तक सीमित कर देना चाहते थे" 'ललकार' के गम्भीर अस्मितावादी और राष्ट्रीय विचलन को दिखलाता है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि 'ललकार' के हमारे राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथी पंजाब को दमित राष्ट्रीयता मानते हैं। उस सूरत में इन्हें राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की लाइन को मानना चाहिए और पंजाब के अलग देश बनाये जाने की हिमायत करनी चाहिए।

5. 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाब में रह रहे प्रवासी मज़दूरों को पंजाबी भाषा सिखायी जानी चाहिए। 17 अप्रैल 2019 को इनकी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के फ़ेसबुक पेज पर डाली गयी एक पोस्ट का अंश – "पंजाब में रहने वाले हर व्यक्ति के साथ पंजाबी भाषा में ही बात करने की कोशिश की जाये। प्रवासियों को पंजाबी सीखने के लिए प्रेरित किया जाये।" भाषा के प्रश्न पर इस कार्यदिशा और राज ठाकरे के अर्द्धफ़ासीवादी मनसे की कार्यदिशा में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं है। जिस प्रवासी को अपने जीवनयापन और सामाजिक-आर्थिक क्रिया-व्यापार हेतु पंजाबी सीखने की आवश्यकता होगी, वह स्वयं ही सीख लेगा। न तो पंजाब के कुलक-फ़ार्मर और न ही औद्योगिक पूँजीपति ऐसी पूर्वशर्त रख रहे हैं कि प्रवासी पंजाबी में ही लिखें-बोलें। ऐसे में, 'बेगाने की शादी में अब्दुल्ला दीवाना' बनकर ऐसी बात करना इनके भाषाई अस्मितावादी विचलन को पूरी तरह अनावृत्त कर देता है। लेनिन ने स्वयं ही कहा था कि जब लोगों को अपने सामाजिक-आर्थिक अर्न्तक्रिया हेतु कोई भाषा सीखना अनिवार्य लगता है तो वे उसे स्वयं स्वेच्छा से अपनाते और सीखते हैं। किसी भाषा को इस प्रकार थोपना उस भाषा को ही हानि पहुँचाता है। जिस प्रकार कोई भी अस्मितावादी अपनी ही अस्मिता के जनसमुदायों को हानि पहुँचाता है और उसी प्रकार हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी भी सर्वाधिक हानि पंजाबी भाषा को ही पहुँचायेंगे।

6. आज पंजाब के हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी सीएए के विरुद्ध अभियान चला रहे हैं। लेकिन जब सीएए के विरोध में असम में प्रदर्शन शुरू हुए थे, तो इन्होंने 'ललकार' के पेज पर असमिया राष्ट्रवादियों के स्टैण्डप्वाइन्ट से पोस्ट डाली थी। यह पोस्ट है, जो ललकार के पेज पर 11 दिसम्बर 2019 को डाली गयी थी (पोस्ट का लिंक – https://www.facebook.com/lalkaar.mag/photos/a.1795834380445290/3157822760913105/) इनकी अवस्थिति यह है कि असम में असमिया अस्मितावादियों द्वारा सीएए का विरोध इसलिए हो रहा है कि असम में असमिया लोग ही अल्पसंख्या हो जायेंगे जो कि वहाँ के "मूल निवासी" हैं और उनकी ये चिन्ताएँ वाजिब हैं! इससे उनकी भाषा और राष्ट्रीय संस्कृति ख़तरे में पड़ जायेंगे। इसका हमने आह्वान पर जो जवाब दिया वह इस लिंक पर देखा जा सकता है। (हमारे जवाब का लिंक – https://www.facebook.com/muktikamiahwan/posts/3195174193832200)

7. पूरे उपमहाद्वीप के विभाजन को रद्द करने की बजाय, केवल पाकिस्तान के पंजाबी सूबे और भारत के पंजाब के पुनःएकीकरण की बात करना और वियतनाम, जर्मनी

के एकीकरण और कोरिया के सम्भावित एकीकरण से उसकी तुलना करना 'ललकार' के हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों की एक और विचित्र खोज थी। 'ललकार' के पेज पर 4 नवम्बर 2019 को डाली गयी पोस्ट का अनुवाद – "मानव इतिहास शोषण-उत्पीड़न रहित समाज के सृजन के लिए जद्दोजहदों से भरा पड़ा है। मानव इतिहास अन्यायपूर्ण युद्धों, बर्बर क़त्लेआमों का भी गवाह है। साम्राज्यवादियों-पूँजीवादी शासकों द्वारा क़ौमों के अन्यायपूर्ण बँटवारों और क़त्लेआम भी इतिहास की छाती पर अंकित हैं। इसके साथ ही इतिहास ने इन अन्यायपूर्ण बँटवारों को ख़त्म होते हुए भी देखा है। दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी पूर्वी और पश्चिमी दो देशों में बँट गया। पर यहाँ के लोगों ने इस बँटवारे को कभी भी मंज़ूर नहीं किया। 1990 में बर्लिन की दीवार गिर गयी। जर्मनी के लोग फिर से एक हो गये। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में बँटा वियतनाम 1976 में एक हो गया। 1945 में कोरिया भी उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में बँट गया। पर यह बँटवारा कोरिया के लोगों के दिलों को नहीं बाँट सका। इसलिए कोरिया के फिर से एकीकरण की बात लगातार चलती रहती है। भविष्य में इसके एक होने की सम्भावना है। पंजाब ने भी 1947 की त्रासदी झेली है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ साम्प्रदायिकता के जो बीज बोये थे उन्होंने 1947 में 10 से 12 लाख पंजाबियों की बलि ले ली। कोई डेढ़ करोड़ पंजाबियों को उजड़ना पड़ा। पर यह सब भी पंजाब के दिलों को न बाँट सका। दोनों पंजाबों के लोगों में फिर से मिलने की प्रबल इच्छा है। देखना यह है कि क्या यहाँ भी जर्मनी, वियतनाम दोहराया जायेगा। अगर पंजाब का फिर से एकीकरण होता है तो इससे किसे तकलीफ़ हो सकती है? सबसे ज़्यादा तकलीफ़ तो साम्प्रदायिक लोगों को ही हो सकती है। या क़ौमों, क़ौमी भावनाओं के प्रति संवेदनहीन रवैया रखने वाले बौने बुद्धिजीवियों को हो सकती है। दिल्ली और इस्लामाबाद के शासकों को वाहगा के दोनों तरफ़ के लोगों के आपसी प्यार से तकलीफ़ हो सकती है। कम्युनिस्ट जो पूरी दुनिया के लोगों की एकता चाहते हैं, वे भला पंजाब और बंगाल या अन्य टुकड़े-टुकड़े की गयी क़ौमों की एकता क्यों नहीं चाहेंगे? (हाँ इस चाहत का हक़ीक़त बन सकना या न बन सकना भविष्य की बात है)। वे दोनों पंजाबों के लोगों के फिर इकट्ठा होने के जज़्बों की क़द्र क्यों नहीं करेंगे? अगर दुनिया में ऐसे अजूबे कम्युनिस्ट हैं तो उन पर तरस ही किया जा सकता है, हँसा भी जा सकता है।"

अलग-अलग प्रान्तों के एकीकरण की बात करना लेकिन पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में विभाजन की त्रासदी को 'अनडू' करने की बात न करना किस राजनीतिक कार्यक्रम की ओर ले जाता है, आप स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे शब्दों में, 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों की ही भाषा में "दिल्ली और इस्लामाबाद" के शासकों के ख़िलाफ़ उन्हें 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर पंजाब' बनानी चाहिए और दोनों के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और एकीकरण हेतु संघर्ष की शुरुआत करनी चाहिए! बंगाल के लोगों को भी ऐसा ही करना चाहिए! उन्हें "दिल्ली और ढाका" के शासकों के विरुद्ध "कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर बंगाल" बनानी चाहिए और उसी प्रकार की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और एकीकरण के लिए लड़ना चाहिए! इस अस्मितावादी विचलन के अज्ञान की हास्यास्पदता यहीं ख़त्म नहीं होती। उसकी असली मिसाल सामने आती है जर्मनी और वियतनाम के एकीकरणों की और उनसे पंजाब के इनके प्रस्तावित एकीकरण की तुलना करने में। वैसे तो शुरू में इन्होंने इस बात से इन्कार किया था कि ये ग्रेटर पंजाब यानी महापंजाब नहीं माँग रहे। लेकिन इनके भटकाव अस्मितावादी विचलन की फटी झोली से बार-बार गिर ही जा रहे थे।

8. 'ललकार' के हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों की राजनीति ही नहीं, गणित भी कमज़ोर है। इनके अनुसार हरियाणा में 30 प्रतिशत पंजाबीभाषी हैं! इसका कोई ठोस भरोसेमन्द आँकड़ा पेश किये बिना 'कुछ मानिन्द लोगों के इम्प्रेशन्स' के आधार पर ऐसा दावा किया गया है! 'ललकार' के अंक 16 अक्टूबर 2019 में छपे लेख "हरियाणा में पंजाबी लोग और पंजाबी मातृभाषा का मसला" का एक अंश – "2011 की जनगणना के अनुसार हरियाणा में तक़रीबन 10 फ़ीसदी लोगों की मातृभाषा पंजाबी है पर असल में पंजाबी बोलने वाले लोगों की संख्या कहीं ज़्यादा है। कुछ माहिर पंजाबी बोलने वाले लोगों की आबादी 30 फ़ीसदी के आसपास बताते हैं।" हमने पहले ही इन ग़लत और झूठे आँकड़ों की सच्चाई अपनी पुरानी पोस्टों में रखी है।

9. 'ललकार' के अनुसार, हर बोली भाषा बनायी जानी चाहिए और इसके लिए हमें सचेतन तौर पर काम करना चाहिए। हरियाणवी को एक स्वतंत्र भाषा क़रार दिया गया है। लेकिन पंजाबी की बोलियों को अलग भाषा बनाने के हमारे अस्मितावादी पक्षधर नहीं हैं। यह परियोजना केवल हिन्दी भाषा पर लागू करनी है। हमारे भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाबी की बोलियों के साथ ऐसा नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि सभी पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले एक-दूसरे को और साथ ही मानकीकृत पंजाबी भाषा को समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी की बोलियों के साथ ऐसा नहीं है। पहली बात तो यह है कि भाषा और बोली में फ़र्क़ करने का यह कोई आधार ही नहीं है। दुनिया में ऐसी कई भाषाएँ हैं, जिनकी सभी बोलियाँ बोलने वाले एक-दूसरे को नहीं समझ पाते या फिर बेहद मुश्किल से समझ पाते हैं। दरअसल, हमारे अस्मितावादी 'डायलेक्ट कॉण्टीनुअम' (dialect continuum) के सिद्धान्त से परिचित नहीं हैं, जो

ठीक यही बताता है कि एक ही भाषा की बोलियाँ हो सकती हैं, जिनको बोलने वाले एक-दूसरे की बोलियों को नहीं समझ पाते या मुश्किल से और आंशिक तौर पर समझ पाते हैं। (देखें, चैम्बर्स एण्ड ट्रडगिल, 'डायलेक्टॉलजी', सेकेण्ड एडीशन, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 4) दूसरी बात, यह बात ही ग़लत है कि हरियाणवी बोलने वालों और भोजपुरी या मागधी बोलियाँ बोलने वालों को मानकीकृत हिन्दी समझ में नहीं आती है। अभी इसको तो हम छोड़ ही दें कि बोली और भाषा के बीच स्तालिन द्वारा किये गये विभाजन के बारे में इन लोगों की कोई समझदारी ही नहीं है। और बोलियों के बीच से किसी एक बोली को मुख्य तौर पर आधार बनाते हुए कोई भाषा किस प्रकार विकसित होती है, इस पर स्तालिन की समझदारी को पूरी तरह से अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने ग़ायब कर दिया है।

10. इनके अनुसार, हिन्दी एक "हत्यारी" और "साम्राज्यवादी" भाषा है, जिसे पहले अंग्रेज़ों ने और बाद में भारतीय पूँजीपति वर्ग की सत्ता ने भाषा बना दिया, अन्यथा यह अपने आप में किसी विचारणीय आकार के जनसमुदाय की भाषा ही नहीं है। फिर इसे अन्य बोलियों की "हत्या" करके तथाकथित हिन्दी पट्टी की जनता पर थोप दिया गया! इनके अनुसार, भोजपुरी, मागधी, अवधी, ब्रज, कौरवी, अहीरी, सभी बोलियों को अलग-अलग भाषा बना दिया जाना चाहिए। हम 'आह्वान' द्वारा पेश आलोचना में, जो कि संलग्न है, दिखला चुके हैं कि यह तर्क किस प्रकार अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है। लेकिन अस्मितावाद के शिकार हमारे 'ललकार' के साथी मानते हैं कि सभी बोलियों को भाषाएँ बनाने का यही काम पंजाबी भाषा की उपभाषाओं और बोलियों के साथ नहीं किया जाना चाहिए! इसके पीछे तर्क है कि सभी पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले मानकीकृत पंजाबी को अच्छी तरह समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी की बोलियाँ बोलने वाले हिन्दी नहीं समझ पाते हैं, हालाँकि यह बात ही तथ्यतः ग़लत है। इसका हम पिछले बिन्दु में खण्डन दे चुके हैं।

11. पंजाबी भाषा की "सरदारी" (वर्चस्व) को पंजाब में सुनिश्चित करने के लिए जोगा सिंह विर्क द्वारा सुझाये गये क़दमों की 'ललकार' के आधिकारिक पेज से हिमायत की गयी है। 26 सितम्बर 2019 को 'ललकार' के पेज पर जोगा सिंह विर्क की एक पोस्ट साझा की गयी, जिसका शीर्षक था – "पंजाबी की सरदारी (वर्चस्व) के लिए ज़रूरी काम"। वैसे मार्क्सवादी-लेनिनवादी कभी भी किसी भाषा के वर्चस्व को स्थापित करने की बात नहीं करते, बल्कि सभी भाषाओं व राष्ट्रों की पूर्ण समानता की बात करते हैं। भारत जैसे बहुराष्ट्रीय देश में इस बात की प्रासंगिकता विशेष तौर पर है।

12. कुछ पोस्टें 'ललकार' के साथियों ने हमारे द्वारा की जा रही आलोचना की प्रक्रिया में ही बिना किसी आत्मालोचना के हटा दीं। जैसे कि 'ललकार' द्वारा शेयर किये गये एक वीडियो में पंजाबी को सिख धर्म और गुरुओं और देश की भाषा क़रार दिया गया था। एक अन्य पोस्ट में ज़ायनवादी हत्यारों के सबसे बड़े समर्थकों में से एक जस्तिन त्रूदो को कनाडा की संसद की कार्रवाई के पंजाबी में प्रसारण करने पर बधाई दी गयी थी, कि पंजाबियों के कनाडा में अल्पसंख्या होने के बावजूद त्रूदो ने ऐसा किया। हालाँकि, इसी सिद्धान्त को पंजाब में हमारे अस्मितावादी लागू नहीं करते हैं। वहाँ पर सारी शिक्षा व सरकारी कामकाज ***केवल*** पंजाबी में होना चाहिए, और प्रवासियों को पंजाबी सीखनी चाहिए! इन हटा दी गयी पोस्टों का मैटर भी संलग्न फ़ाइल में शामिल है।

13. हिमाचल प्रदेश की भी कई बोलियों को पंजाबी की बोलियाँ होने का दावा किया जाता रहा है। मिसाल के तौर पर, इनके ही एक साथी ने अपनी एक पोस्ट "पंजाबी और बिलासपुरी भाषा के आपस में जुड़े तार" में दावा किया है कि बिलासपुरी वास्तव में पंजाबी के क़रीब पड़ती है। सच्चाई यह है कि बिलासपुरी बोली भाषाविज्ञानी तौर पर पश्चिमी पहाड़ी भाषा परिवार में आती है, पंजाबी में नहीं।

14. चण्डीगढ़ को पंजाब में शामिल किये जाने की माँग को भी 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादियों ने पुरज़ोर तरीक़े से बार-बार उठाया है। इसके लिए आज चण्डीगढ़ में रहने वाली आबादी की राय कोई मायने नहीं रखती! बस हमारे अस्मितावादियों की राय मायने रखती है! इस पूरे तर्क का खण्डन भी हम पहले ही अपने आलोचनात्मक निबन्धों में पेश कर चुके हैं। (इनमें से कुछ इस अंक में संलग्न हैं – सम्पादक)

15. जब अस्मितावाद का कैंसर फैलता है तो वह एक अंग में रुकता नहीं है। हमारे 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का अस्मितावाद भाषा और राष्ट्र के सवाल पर शुरू हुआ है लेकिन इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि यह जल्द ही अन्य रूपों में भी प्रकट हो सकता है। मिसाल के तौर पर, दिल्ली में एक सिख ऑटो चालक के साथ पुलिस द्वारा मारपीट की घटना को इन्होंने यह कहते हुए धार्मिक रंग देने की कोशिश की कि उसे पुलिस ने इसलिए पीटा था क्योंकि वह सिख था। इस पर पंजाब के ही तमाम तर्कसंगत लोगों ने इनका विरोध किया था। सभी जानते हैं कि हर धर्म के ऑटो ड्राइवरों के साथ आये-दिन पुलिस मारपीट करती है, इसलिए क्योंकि वे मेहनतकश तबक़े से आते हैं। इसकी फ़ेसबुक पोस्ट का लिंक संलग्न फ़ाइल में है। इस मसले को धार्मिक रंग देना वास्तव में इनके अस्मितावादी रुझान को ही दिखलाता है। इसी प्रकार क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक शहीद की तुलना भाई सती दास व भाई मती दास से भी की गयी थी। यह भी इसी आम अस्मितावादी रुझान को

ही दिखलाता है।

इसी प्रकार की अन्य कई बातें कहीं गयीं जो कि किसी भी रूप में एक सर्वहारा लाइन नहीं है। अब हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी इनमें से कई बातों से मुकर रहे हैं कि उन्होंने तो ऐसी बात ही नहीं कही, इसलिए हमने उनके द्वारा अपनी पत्रिका, फ़ेसबुक पेज आदि पर प्रस्तुत किये गये विचारों को भी यहाँ पर शेयर कर दिया है, ताकि गोलपोस्ट शिफ़्ट न किया जा सके। क्योंकि गोलपोस्ट शिफ़्ट करने की वजह से कोई भी बहस स्वस्थ रूप से नहीं चल पाती है।

दूसरी बात, 'ललकार' के साथी यह दलील दे रहे हैं कि उन्होंने तो यह बातें बस कहीं हैं, लेकिन उनका इस पर आन्दोलन खड़ा करने या मोर्चा निकालने का कोई इरादा नहीं है। हमारा कहना है कि मार्क्सवादियों के लिए सिद्धान्त कर्मों का मार्गदर्शक होता है, बस 'कह देने' के लिए नहीं होता है। हर विवरण एक निर्देश होता है (every description is always-already a prescription)। हर विश्लेषण में एक कार्रवाई का कार्यक्रम भी होता है। यदि ऐसा नहीं है, तो आप मार्क्सवादी नहीं माने जायेंगे। यदि हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का ऐसा मानना है, तो उन्हें इन बातों पर आन्दोलन जरूर करना चाहिए!

ख़ैर, हमने इन बातों के जवाब में मुख्यतः निम्न बातें कहीं हैं, जिन्हें आप साथ में शेयर किये गये दस्तावेज़ों में भी पढ़ सकते हैं :

1. पंजाब में शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज पंजाबी में तो अवश्य होना चाहिए, लेकिन ***सिर्फ़*** पंजाबी में हो, ऐसी माँग करना सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ जाता है। हमें ऐसी भाषा नीति की माँग करनी चाहिए कि हर राज्य में हर नागरिक को अपनी मातृभाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कामकाज का ***विकल्प*** मुहैया किया जाना चाहिए। यह तो कोई ऐसी माँग भी नहीं है जो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही पूर्ण हो सकती है, बल्कि कई यूरोपीय देशों ने समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज में अपनी सीमाओं के भीतर बोली जाने वाली कई या सभी भाषाओं का विकल्प मुहैया करके दिखला दिया है। दूसरी बात, ऐसी माँग एक ऐसे देश में मज़दूर-विरोधी माँग है, जहाँ 2001 की जनगणना के आधार पर आन्तरिक प्रवासी आबादी कुल आबादी का 30 प्रतिशत है। कहने की आवश्यकता नहीं है, इन प्रवासियों का 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा हिस्सा मज़दूर वर्ग से आता है। ऐसे में, किसी भी राज्य के कम्युनिस्टों द्वारा ऐसी माँग उठाया जाना यही दिखलाता है, कि वे भाषा और राष्ट्रीयता के सवाल पर बुर्जुआ अस्मितावाद के विचलन का शिकार हैं।

2. इससे भी ज़्यादा प्रतिक्रियावादी माँग हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार के साथियों की यह है कि पंजाब में रोज़गार के लिए पंजाबी भाषा को पूर्वशर्त बनाया जाये। राज्य के मातहत आने वाली सरकारी नौकरियों में पहले से यह शर्त है, लेकिन सभी नौकरियों में ऐसी माँग करना ही सर्वहारा दृष्टिकोण से एक प्रतिक्रियावादी माँग है। न तो पंजाब के पूँजीपति ये माँग कर रहे हैं और न ही कुलक-फ़ार्मर, कि सभी प्रवासी मज़दूर पंजाबी सीखें तो कोई सर्वहारा संगठन ऐसी माँग क्यों उठायेगा? यह किसी भी मानक से सर्वहारा माँग नहीं है। उल्टे यह मज़दूरों के प्रवास में बाधा पैदा करने वाली एक राष्ट्रवादी माँग है, जिसका लेनिनवादी मानकों से पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए। कल्पना करें कि यही माँग महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बंगाल, उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़, तेलंगाना, आदि सभी राज्यों में उठा दी जाये, तो इसका क्या नतीजा होगा? और इसका उन राज्यों में रह रहे पंजाबी प्रवासियों पर क्या असर होगा?

3. हरियाणा में मौजूदा तौर पर केवल एक ज़िला है जिसमें पंजाबी भाषी बहुसंख्या में हैं, और वह है सिरसा। हम पहले भी तथ्यों व तर्कों समेत 'आह्वान' द्वारा अस्मितावादी विचलन के शिकार 'ललकार' के साथियों की आलोचना में यह दिखला चुके हैं कि किसी भी मानक से जीन्द, हिसार व फतेहाबाद पंजाबीभाषी बहुल नहीं हैं। हम ऐसे दावे पर यही कहेंगे कि पंजाब के हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को पंजाबी भाषा की "सरदारी" स्थापित करने का अपना अभियान जीन्द और हिसार तथा फतेहाबाद में आकर चलाना चाहिए! जनता ही अपने रचनात्मक तरीक़ों से उन्हें इस दावे के बेतुकेपन का मतलब समझा देगी। दूसरी बात, हमें सिरसा में पंजाबी भाषी आबादी के बहुसंख्या में होने के आधार पर उनकी मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज का अधिकार माँगना चाहिए। लेकिन यदि पंजाब राज्य में शामिल होने की जनता के बीच कोई माँग ही नहीं है, तो इस प्रकार की माँग को उठाकर गोलबन्दी करने का कोई तुक नहीं बनता है, क्योंकि यह मेहनतकश जनता के बीच ही विभाजन की दीवारें खड़ी करेगा। मूल बात यह है कि राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज जनता की जीवन्त और ज्वलन्त माँग है ही नहीं और यह सर्वहारा माँग तो क़तई नहीं है। लेकिन अगर 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी ऐसा मानते हैं तो उन्हें सिर्फ़ बोलना नहीं चाहिए, बल्कि इसके

लिए जनान्दोलन भी खड़ा करना चाहिए। बागड़ी, बांगरू, आदि सभी बोलियों को पंजाबी भाषा की बोलियाँ क़रार देने का तथ्यों व तर्कों समेत जवाब हम 'आह्वान' की पोस्टों में दे चुके हैं जिन्हें हमने कालानुक्रम से मौजूदा नोट के साथ शेयर किया है। ऐसा ही दावा हमारे 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी तमाम हिमाचली बोलियों के लिए भी करते रहे हैं।

4. हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाब के प्रवासी मज़दूरों व आम तौर पर प्रवासियों को पंजाबी भाषा सिखायी जानी चाहिए। हमारा यह कहना है कि सामाजिक व आर्थिक क्रिया-व्यापार की आवश्यकता के आधार पर जो प्रवासी पंजाबी सीखना चाहेगा वह अवश्य सीखेगा और उसे सीखने में मदद भी की जानी चाहिए। लेकिन सभी प्रवासियों के लिए आप ऐसा फ़ैसला लेने वाले कौन हैं? क्या आप इसका भी समर्थन करेंगे कि यदि हरियाणा या उत्तराखण्ड के ज़िलों में रहने वाले पंजाबी प्रवासियों को ज़बरन हिन्दी या वहाँ की बोली सिखायी जाये? इसका पंजाब के हमारे 'बिग नेशन शॉविनिस्ट' भटकाव से ग्रस्त साथी समर्थन नहीं करेंगे! वह तो कनाडा में भी पंजाबी प्रवासियों को उनकी मातृभाषा का हक़ दिलाना चाहते हैं! लेकिन पंजाब में आते ही ग़ैर-पंजाबी भाषी प्रवासियों के बारे में उनके सारे मानक बदल जाते हैं!

5. पाकिस्तान के राज्य पंजाब और भारत के राज्य पंजाब के एकीकरण की बात करना और समूचे भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन को ख़त्म करने की बात न करना न केवल सैद्धान्तिक तौर पर ग़लत है, बल्कि व्यावहारिक तौर पर भी विचित्र राजनीतिक कार्यक्रम पर पहुँचता है। इनके अनुसार पंजाबियों को पाकिस्तान और भारत दोनों ही जगह क़ौमी दमन का सामना करना पड़ रहा है। तो इस कार्यदिशा के अनुसार एक 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर पंजाब' की स्थापना करके हमारे पंजाब के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को भारत और पाकिस्तान की बुर्जुआज़ी के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई लड़नी चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम ने लड़ी थी! सच तो यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप में भारत हो या पाकिस्तान, दोनों ही जगहों पर जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट हैं, वे पूरे उपमहाद्वीप के ही साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन को एक त्रासदी मानते हैं और इसे 'अनडू' करने की ऐतिहासिक परियोजना को वांछनीय मानते हैं। इसके लिए ज़ाहिरा तौर पर भारत और पाकिस्तान में समाजवादी क्रान्ति एक बुनियादी पूर्वशर्त है। इसी के ज़रिये मुख्य तौर पर पंजाब और बंगाल और इसके अलावा उन सभी क़ौमों के साथ हुए विभाजन के अन्याय को भी समाप्त किया जा सकता है, जो कि मौजूदा सीमा पर बसती हैं।

6. हिन्दी के "हत्यारी" और "साम्राज्यवादी" भाषा होने पर भी हमने अपनी पोस्टों में तर्कों व तथ्यों समेत विस्तृत आलोचना पेश की थी। वह भी यहाँ अटैच फ़ाइल्स में शेयर की गयी है। *(इनमें से कुछ मौजूदा अंक में शामिल हैं – सम्पादक)* साथ ही, बोली और भाषा के बीच फ़र्क़ न करने और हर बोली को भाषा के रूप में विकसित करने की अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक सोच पर भी हमने क्लासिकीय मार्क्सवाद के सन्दर्भों के साथ आलोचना की है। वह भी शेयर की गयी फ़ाइलों में मौजूद है।

7. आख़िर में, किसी एक भाषा की "सरदारी" स्थापित करने की पूरी सोच के ग़ैर-मार्क्सवादी चरित्र पर भी हमने अपनी पोस्टों में विचार पेश किये हैं, वे भी यहाँ पेश फ़ाइलों में शामिल हैं।

अन्य बिन्दुओं पर हमारे विचार इस नोट के पहले हिस्से में 'ललकार' के अस्मितावादी भटकाव के शिकार साथियों की अवस्थिति पर चर्चा करते हुए रखे गये हैं और आह्वान द्वारा पेश की गयी आलोचनात्मक पोस्ट्स में शामिल हैं, जिन्हें पाठक अब एक स्थान पर संलग्न पीडीएफ़ में पढ़ सकते हैं।

ये याददिहानी इसलिए ज़रूरी थी कि अपनी इन मूल अवस्थितियों में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन करते हुए राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी अपना गोलपोस्ट शिफ़्ट करते जा रहे हैं, जिससे कि भ्रम की स्थिति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। हमने जो फ़ाइलें साथ में शेयर की हैं, उनसे उनके द्वारा अपनायी गयी अवस्थितियाँ भी साफ़ तौर पर देखी जा सकती हैं और हमारे द्वारा पेश आलोचनाएँ भी एक स्थान पर कालानुक्रम के साथ पढ़ी जा सकती हैं।

आगे हम इन सभी सवालों पर आह्वान की अवस्थिति को एक स्थान पर क्लासिकीय लेनिनवादी अवस्थितियों के सन्दर्भों समेत दो अवस्थिति पत्रों में रखेंगे जिनमें से एक भारत में भाषा के प्रश्न पर होगा और दूसरा भारत में राष्ट्रीयताओं के सवाल पर। फ़िलहाल, पाठकों से आग्रह है कि आह्वान की सभी आलोचनात्मक पोस्टों को पढ़ लें, जिन्हें हमने एक स्थान पर कर दिया है। वे इस नोट के साथ ही संलग्न है।

●

भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों के नये द्रविड़ प्राणायाम

● **सम्पादक मण्डल, 8 फ़रवरी 2020**

हमने 3 फ़रवरी को एक पोस्ट डालकर भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों के साथ चली बहस के विषय में एक याददिहानी पोस्ट डाली थी कि इसमें किस पक्ष की क्या अवस्थिति थी। क्योंकि हमारे द्वारा रखी गयी आलोचना के बाद अस्मितावाद के शिकार साथी अपनी मूल अवस्थितियों को क्रमशः प्रक्रिया में बदलते हुए गोलपोस्ट शिफ़्ट कर रहे थे। इस पोस्ट में उठाये गये सवालों का ठोस जवाब देने की बजाय हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथियों ने एक पोस्ट डालकर दावा किया है कि हम भाषाई दमन का विरोध नहीं करते हैं, हम दमित क़ौमों की हिमायत नहीं करते हैं। इसमें पंजाब को "दिल्ली के शासकों" द्वारा दबायी गयी दमित क़ौम बताया है। इसमें से पहली दो बातें, यानी कि हम भाषाई दमन का विरोध नहीं करते और हम दमित क़ौमों के संघर्षों की हिमायत नहीं करते हैं, सरासर ग़लत और बेशर्म क़िस्म का हताशा में बोला गया झूठ है। ये अभी तक बहस को फ़ॉलो करने वाले सभी साथियों को अच्छी तरह से पता है। हमने पहले भी 'आह्वान' पर एक पोस्ट डालकर (4 नवम्बर की हमारी पोस्ट 'हमारी बातों के मुख्य बिन्दु' देखें) बताया था कि हम क्या कह रहे हैं और क्या नहीं। भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे ये साथी अपनी इस नयी पोस्ट में बस ठोस सवालों का ठोस जवाब देने से बचने का एक दयनीय प्रयास कर रहे हैं। **अब इस पर आते हैं कि हमारे इन अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने नयी ग़लतियाँ क्या की हैं।**

'प्रतिबद्ध' पत्रिका के फ़ेसबुक प्रोफ़ाइल से हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने एक नयी पोस्ट डाली है, जिसमें किसी भी सवाल का जवाब नहीं दिया है और फिर से अपने क़ौमी जज़्बात जगाने वाले कुछ कथन डाल दिये हैं और साथ ही हम पर संघी प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के पक्ष में खड़े होने का आरोप लगा दिया है। लेकिन यह दयनीय प्रयास करते हुए भाषाई व राष्ट्रीय विचलन के शिकार हमारे दोस्त फिर से कुछ ग़लतियाँ कर बैठे हैं। इसमें कहा गया है कि "दिल्ली के शासक" पंजाब की दमित राष्ट्रीयता को भाषाई दमन और "राजधानी छीनकर" राष्ट्रीय दमन का शिकार बना रहे हैं। इसके कई नतीजे निकलते हैं और उससे कई सवाल निकलते हैं जिनका जवाब देने से अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे साथी शुरू से ही कतरा रहे हैं। **पहला नतीजा यह है कि यदि पंजाब एक दमित क़ौम है, तो उसके सामने स्पष्ट कार्यभार है राष्ट्रीय मुक्ति का और इसलिए वहाँ क्रान्ति की मंज़िल राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल बनती है। दूसरा नतीजा यह है कि यह राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति एक दमनकारी राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग के विरोध में होगी। अब सवाल यह उठता है कि यह प्रभुत्वशील (dominant) या दमनकारी (oppressor) क़ौम कौन है? दूसरे शब्दों में, क्या "दिल्ली के शासक" किसी विशिष्ट क़ौम की बुर्जुआज़ी हैं? अगर नहीं हैं तो इन "दिल्ली के शासकों" में क्या कई क़ौमों की बुर्जुआज़ी की नुमाइन्दगी है? यदि हाँ, तो ये "दिल्ली के शासक" किन क़ौमों की बुर्जुआज़ी की नुमाइन्दगी करते हैं? क्या इनमें पंजाबी क़ौम की बुर्जुआज़ी को भी नुमाइन्दगी हासिल है? अगर नहीं, तब तो स्पष्ट तौर पर क़ौमी दमन का मसला है और क्रान्ति का कार्यक्रम स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का बनता है।**

दूसरी बात, पंजाब के लोगों में और सिरसा और (अस्मितावाद के शिकार साथियों के अनुसार) फतेहाबाद, जीन्द, हिसार आदि की जनता में इन ज़िलों को पंजाब में शामिल कर लिये जाने के लिए यदि कोई स्पष्ट माँग है तो हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को इस पर एक आन्दोलन की शुरुआत करनी चाहिए। हम कई महीनों से इसका इन्तज़ार कर रहे हैं, लेकिन यह आन्दोलन शुरू ही नहीं हो रहा है! उसी प्रकार, यदि चण्डीगढ़ को पंजाब में शामिल करने के लिए जनता के बीच माँग है, तो इन्हें चण्डीगढ़ और पंजाब में इसके लिए भी एक आन्दोलन खड़ा करना चाहिए। इसका भी हमारा इन्तज़ार लम्बा हो गया है! लेकिन इस पर साफ़ कहा जाता है कि 'हम तो बस यह बात बोलेंगे, इस पर कोई आन्दोलन नहीं खड़ा करेंगे'। अजीब बात है! **अगर यह जनता की जायज़ माँग है, तो सिर्फ़ बोलना ही क्यों, इस पर एक जनान्दोलन क्यों नहीं खड़ा किया जाना चाहिए? ये दोनों ही माँगें क्यों ग़ैर-माँगें हैं और सर्वहारा नज़रिये से इन्हें उठाने की कोई प्रासंगिकता**

क्यों नहीं बनती है, इस पर हमारे तर्कों को जानने के लिए हमारे 3 फ़रवरी को शेयर किये गये नोट को पढ़ें, हम वे सारे तर्क यहाँ सौवीं बार दुहरायेंगे नहीं, जिनका अभी तक अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे साथियों ने कोई जवाब नहीं दिया है।

तीसरी बात, हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार दोस्त क़ौमी दमन का मतलब ही नहीं समझते हैं। उन्हें लगता है कि केवल भाषाई दमन को क़ौमी दमन कहा जा सकता है। स्तालिन ने स्पष्ट बताया है कि भाषाई दमन क़ौमी दमन का केवल एक तत्व है और यह अपने आप में क़ौमी दमन नहीं माना जा सकता है और इसी वजह से जहाँ सिर्फ़ यह पहलू मौजूद है, वहाँ पर कोई राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा नहीं हो पाता और वह *बस साइनबोर्डों की भाषा के तुच्छ झगड़ों में* तब्दील होकर रह जाता है (जैसा कि पंजाब का राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ रखने वाला एक भूतपूर्व गैंगस्टर कर भी रहा है और उसका 'ललकार' के भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथी समर्थन भी कर रहे हैं!)। अन्य कारकों की मौजूदगी के साथ भाषाई दमन राष्ट्रीय दमन हो सकता है, या नहीं हो सकता है। इन अन्य कारकों में बुनियादी है किसान प्रश्न और साम्राज्यवादी औपनिवेशिकीकरण का प्रश्न। स्तालिन बोहेमिया का उदाहरण देकर इस बात को समझाते हैं। हम यहाँ कुछ उद्धरण पेश कर रहे हैं, क्योंकि हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी कॉमरेड लेनिन और कॉमरेड स्तालिन के कुछ उद्धरण बिना किसी सन्दर्भ के और सन्दर्भों से काटकर पेश करते हैं, ताकि अपनी उल्टी-सीधी अवस्थितियों को अपने उन क़रीबियों के समक्ष सिद्ध कर सकें, जिनमें उनकी अस्मितावादी अवस्थिति को लेकर कुछ संशय, कुछ सवाल पैदा हो चुके हैं। निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि राष्ट्रीय दमन क्या है, उसमें भाषाई दमन का क्या स्थान है, वग़ैरह।

निम्न उद्धरणों में स्तालिन बताते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन का सारतत्व क्या होता है और राष्ट्रीय दमन किसे कहते हैं :

"सटीक तौर पर कहें तो संघर्ष पूरे के पूरे राष्ट्रों के बीच नहीं शुरू होता है, बल्कि प्रभुत्वशील देशों के शासक वर्ग और उन देशों के शासक वर्गों के बीच शुरू होता है जो कि पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये हैं। यह संघर्ष आम तौर पर दमित राष्ट्रों के निम्न-पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूँजीपति वर्ग (चेक व जर्मन), या दमित राष्ट्रों के ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के भूस्वामी वर्ग (पोलैण्ड में यूक्रेनी) के बीच होता है, या फिर दमित राष्ट्रों के समूचे 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासक कुलीन सामन्त वर्ग के बीच होता है (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन)।" (Stalin, 1998, Marxism and the National Question, Selected Works, Volume 2, New Horizon Book Trust, Kolkata, p. 259)

आगे भी देखें :

"हर रूप में दबाया गया दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग नैसर्गिक तौर पर आन्दोलन में कूद पड़ता है। यह अपने 'देशी लोगों' से अपीलें करता है और 'पितृभूमि' के बारे में शोर मचाना शुरू कर देता है; यह दावा करते हुए कि उसका लक्ष्य ही पूरे राष्ट्र का लक्ष्य है। यह अपने 'देशवासियों' के बीच से...'पितृभूमि' के हितों में एक सेना खड़ी करता है। 'लोग' भी हमेशा उसकी अपीलों का जवाब न दें ऐसा नहीं होता; वे भी उसके झण्डे तले एकत्र होते हैं : ऊपर से दमन उन्हें भी प्रभावित करता है और उनके असन्तोष को भी बढ़ावा देता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है।

"राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निर्धारित होती है कि राष्ट्र के व्यापक हिस्से, यानी कि मज़दूर और किसान वर्ग, किस हद तक इसमें हिस्सेदारी करते हैं।

"सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद के झण्डे तले जाता है या नहीं यह वर्ग अन्तरविरोधों के विकास की मंज़िल पर, सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना और उसके संगठन की मंज़िल पर निर्भर करता है। वर्ग-सचेत सर्वहारा का अपना परखा हुआ झण्डा है, और उसे पूँजीपति वर्ग के झण्डे तले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

"जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, तो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारी प्राथमिकतः दमनों के चरित्र पर निर्भर करती है। अगर दमन 'ज़मीन' को प्रभावित करते हैं, जैसा कि आयरलैण्ड में था, तो किसानों के व्यापक जनसमुदाय तत्काल राष्ट्रीय आन्दोलन के झण्डे तले गोलबन्द हो जाते हैं।" (ibid, p. 260)

और देखें :

"लेकिन, दूसरी ओर, मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया में अगर कोई रूसी-विरोधी राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ कोई रूसी ज़मीन्दार वर्ग या रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग नहीं है जो कि जनसमुदायों के बीच इस राष्ट्रवाद को हवा दे सके। जॉर्जिया में, एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद है; लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि अभी भी वहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो छोटे और अभी भी सशक्त नहीं बने जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग पर अपनी वरीयता स्थापित करके उसे आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है।

"इन कारकों के आधार पर, राष्ट्रीय आन्दोलन या तो

एक जन चरित्र अपनाता है और तेज़ी से बढ़ता है (जैसा कि आयरलैण्ड और गैलीशिया में हुआ) या फिर तुच्छ टकरावों में बदल जाता है, जो कि जल्द ही साइनबोर्डों को लेकर लड़ाइयों और 'झगड़ों' में बदल जाता है (जैसा कि बोहेमिया के छोटे शहरों में हुआ)" [कहना होगा कि ऐसा भारत में भी कुछ राज्यों में हुआ है, जैसा कि पंजाब में एक भूतपूर्व गैंगस्टर द्वारा साइनबोर्डों से हिन्दी मिटाने की मुहिम में देखा जा सकता है, हालाँकि कुछ राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार "मार्क्सवादी" भी इसे "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" मानते हैं! – लेखक] (वही, p. 260-61)

यह है राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व। यदि यह मौजूद नहीं है तो भी भाषाई दमन हो सकता है, सांस्कृतिक दमन हो सकता है, लेकिन वह अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं बन सकता है। स्तालिन ने बार-बार और अन्य स्थानों पर भी इस बात की याददिहानी की है कि किसान प्रश्न के बग़ैर राष्ट्रीय प्रश्न का कोई बुनियादी तत्व नहीं बचता है। किसान प्रश्न भी अपने आप में राष्ट्रीय प्रश्न नहीं है, लेकिन *यह उसकी अन्तर्वस्तु का बुनियादी तत्व है।* यदि यह प्रश्न हल है, तो फिर एक ही सूरत में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार तात्कालिक तौर पर प्रधान अन्तरविरोध बनता है : औपनिवेशिकीकरण, यानी किसी अन्य देश द्वारा क़ब्ज़ा। किसान प्रश्न मूलतः राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व है, इसे स्तालिन निम्न उद्धरण में स्पष्ट कर देते हैं :

"यह ग़लती उसे (सेमिच को) एक और ग़लती की ओर ले जाती है, यानी इस बात से उसका इन्कार करना कि राष्ट्रीय प्रश्न अपने सार में वस्तुतः किसान प्रश्न ही है। कृषि प्रश्न नहीं बल्कि किसान प्रश्न क्योंकि ये दोनों अलग चीज़ें हैं। यह बिल्कुल सही है कि किसान प्रश्न ही हूबहू राष्ट्रीय प्रश्न नहीं हैं, क्योंकि, किसान प्रश्न के साथ-साथ राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय राज्य आदि के प्रश्न जुड़े होते हैं। लेकिन यह भी सन्देह से परे हैं, कि अन्ततः, किसान प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न का आधार, उसका सारतत्व है। यही इस तथ्य को व्याख्यायित भी करता है कि किसान ही राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य सेना होते हैं, कि बिना किसान सेना के न तो राष्ट्रीय आन्दोलन होता है और न ही हो सकता है।" (स्तालिन, 1954, 'यूगोस्लाविया में राष्ट्रीय प्रश्न के विषय में', फ़ॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, मॉस्को)

जहाँ तक प्रश्न है कि किसी भी राष्ट्रीयता की अपनी भाषा को विशिष्ट दर्जा दिये जाने की माँग उठाने का, तो हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी स्वयं यह माँग उठाते हैं क्योंकि उनका मानना है कि पंजाब में शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज की भाषा सिर्फ़ पंजाबी होनी चाहिए और रोज़गार के लिए पंजाबी को पूर्वशर्त बनाया जाना चाहिए। हमने 3 फ़रवरी की पोस्ट में दिखलाया था कि पंजाब सरकार की नौकरियों के लिए यह शर्त पहले से मौजूद है। और केन्द्रीय सरकार की नौकरियों और निजी नौकरियों के लिए ऐसी माँग करना प्रतिक्रियावादी है और सर्वहारा वर्ग का ऐसी माँग के साथ कोई रिश्ता नहीं हो सकता है। पंजाब में केन्द्रीय सरकार के नौकरियों की परीक्षा पंजाबी में होने के साथ प्रमुख सम्पर्क भाषाओं, यानी हिन्दी व अंग्रेज़ी में भी होनी चाहिए। आइए यह भी देख लेते हैं कि राष्ट्रीयताओं द्वारा अपनी भाषा को विशिष्ट दर्जा देने की माँग के बारे में स्तालिन के क्या विचार हैं। यहाँ स्तालिन यहूदियों के बारे में बात करते हुए स्पष्ट करते हैं कि वे तमाम देशों में राष्ट्रीय अल्पसंख्या हैं और *बुण्ड* ने उनके लिए भाषा के तौर पर यिडिश भाषा को विशेष दर्जा देने, आदि की माँग की थी। देखें स्तालिन इस पर क्या कहते हैं :

"सामाजिक-जनवाद सभी राष्ट्रों के अपनी भाषा का इस्तेमाल करने के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए संघर्ष करती है। लेकिन बुण्ड के लिए यह पर्याप्त नहीं है; वह माँग करता है कि 'यहूदी भाषा के अधिकारों' की 'अपवादस्वरूप दृढ़ता' से वकालत की जानी चाहिए, और बुण्ड ने चौथी दूमा के लिए चुनावों में स्पष्ट रूप से ख़ुद ही घोषण की कि वह 'उन लोगों को प्राथमिकता देगा जो कि यहूदी भाषा के अधिकारों की रक्षा की शपथ लेंगे'

"यानी अपनी भाषा का इस्तेमाल करने के सभी राष्ट्रों के आम हक़ नहीं, बल्कि यहूदी भाषा यिडिश के विशेष अधिकार की बात! सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों को प्राथमिक तौर पर अपनी-अपनी भाषा के लिए लड़ने दो : यहूदी लोग यहूदी भाषा के लिए, जॉर्जियाई जॉर्जियाई के लिए, आदि। सभी राष्ट्रों के आम अधिकारों के लिए संघर्ष गौण मुद्दा है...

"लेकिन फिर बुण्ड बुर्जुआ राष्ट्रावादियों से किन अर्थों में भिन्न है?" (वही, p. 288)

क्या हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों पर ठीक यही बात लागू नहीं होती? वे भी पंजाब में प्रवासियों को पंजाबी सिखाए जाने की हिमायत करते हैं (चाहे वे ऐसा चाहें या न चाहें, क्योंकि सीखनी तो उन्हें पड़ेगी ही अगर पंजाबी भाषा पंजाब में रोज़गार की पूर्वशर्त होगी!) लेकिन हर राष्ट्रीयता के मेहनतकशों को हर स्थान पर उनकी भाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण, सरकारी कामकाज और रोज़गार के हक़ की हिमायत नहीं करते हैं। जबकि लेनिनवादी अवस्थिति यह है कि सही जनवादी माँग यह है कि हर राष्ट्रीयता के मेहनतकश को उसकी भाषा में पढ़ने-लिखने व काम करने का अवसर प्राप्त हो। यदि वह किसी अन्य भाषाभाषी क्षेत्र में है, तो भी वहाँ की

भाषा सीखना या न सीखना उसकी इच्छा का मसला है। लेनिन ने ख़ुद ही बताया था कि इसे बाध्यताकारी क़तई नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि जब सामाजिक और आर्थिक अन्तर्क्रिया इसे अनिवार्य कर देगी तो वह स्वयं ही बिना किसी दबाव के उस नयी भाषा को सीखेगा।

हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी सीएए-एनआरसी पर अपनी फ़ेसबुक पोस्ट (https://www.facebook.com/lalkaar.mag/photos/a.1795834380445290/3157822760913105/) में असम में एनआरसी के मुद्दे पर गोलमोल अवस्थिति लेते हुए वहाँ पर "शरणार्थियों की समस्या", असमियों के राष्ट्रीय हितों के ख़तरे में पड़ जाने, मूलनिवासी असमियों के अल्पसंख्यक हो जाने और संसाधनों का संकट आ जाने की बात करते हैं। वे शरणार्थियों और प्रवासियों के प्रवाह के कारण असमिया भाषा और राष्ट्रीय संस्कृति के ख़तरे में पड़ जाने की बात करते हैं। वह इस पर साफ़ नहीं बताते कि असम में एनआरसी (यदि वह बिल्कुल भ्रष्टाचार के बिना और "सही" तरीक़े से हो तो!) सही है या नहीं! **असुविधाजनक प्रश्नों से मुँह चुराकर भागने का यह एक तरीक़ा है।** सच यह है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विदेशी-मूलनिवासी, फ़ॉरेनर, एलियन तत्व जैसी चीज़ों का कोई मतलब नहीं है। दुनिया भर के मार्क्सवादी मानते हैं कि जो भी व्यक्ति किसी समाज में रहता है और अपनी मेहनत से उसमें समृद्धि का सृजन करता है, वह विदेशी या एलियन नहीं है। यहाँ तक कि ऑस्ट्रेलिया जैसे पूँजीवादी देश में व्हिटलम की उदारवादी सरकार ने 'ओपेन डोर पॉलिसी' की बात की थी और कहा था कि ऑस्ट्रेलिया के तट पर उतरने वाले किसी भी व्यक्ति को सरकार वापस नहीं भेज सकती। आज राष्ट्रवाद के उभार के साथ ऑस्ट्रेलिया अपनी उस पुरानी मानवतावादी नीति को छोड़ रहा है। दूसरी बात, मार्क्सवादी मानते हैं और जानते हैं कि संसाधनों का संकट पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता से पैदा होता है, न कि शरणार्थियों के कारण। शरणार्थी आम तौर पर मेहनतकश अवाम का हिस्सा होते हैं और वे समृद्धि पैदा करते हैं, परजीवी वर्गों के समान उसे सिर्फ़ खाते नहीं हैं। असम में भी बंगाली, बिहारी, उड़िया प्रवासी समृद्धि को परजीवियों के समान खाने वाले वर्ग नहीं हैं, बल्कि समृद्धि को पैदा करने वाले और कुदरती संसाधनों का उत्पादक उपयोग और संरक्षण करने वाले लोग हैं। तीसरी बात, मार्क्सवादी प्रवासियों के कारण राष्ट्रीय संस्कृति और भाषा के ख़तरे में पड़ जाने या मूलनिवासियों के अल्पसंख्या बन जाने को लेकर पेट दर्द नहीं पैदा करते हैं। यहाँ तक कि ऑल असम स्टूडेंट यूनियन के उन तमाम नेताओं को भी आज यह बात समझ में आ गयी है कि असम आन्दोलन में एनआरसी की माँग करके और शरणार्थी-विरोधी व प्रवासी-विरोधी राजनीति को हवा देकर उन्होंने एक भारी भूल की थी और अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारी थी। लेकिन राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन की दुनिया के हमारे नवागंतुकों को यह बात समझ में नहीं आ रही है। फ़र्ज़ करें कि पुरानी दिल्ली के मूल बाशिन्दे भी कहें कि 1947 में विभाजन के बाद पंजाब से और उसके बाद पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि से आये प्रवासियों के कारण वे अपने ही सूबे में अल्पसंख्या हो गये और ग़ैर-दिल्लीवासियों की लिस्ट बनाकर उन्हें बाहर किया जाये, तो क्या इस माँग का कोई तुक होगा? बेहद स्पष्ट है कि सर्वहारा दृष्टिकोण से मूलनिवासी राजनीति और उनकी विशिष्ट संस्कृति की रक्षा की राष्ट्रवादी पुकार का कोई तुक नहीं बनता है, उल्टे यह प्रतिक्रियावादी मानी जायेगी। ऐसी बात अल्जीरियाई, ट्यूनीशियाई व अन्य उत्तर-अफ़्रीकी शरणार्थियों के लिए फ़्रांसीसी लोग भी कह सकते हैं और फ़्रांस के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादी कह भी रहे हैं। आइए मूल निवासियों की राष्ट्रीय सांस्कृतिक विशिष्टता की हिफ़ाज़त को लेकर परेशान लोगों के बारे में भी लेनिन और स्तालिन के विचार जान लेते हैं। लेनिन लिखते हैं :

"सामाजिक-जनवाद के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय संस्कृति का नारा क़तई नहीं दिया जा सकता है। यह नारा ग़लत है क्योंकि पूँजीवाद के अन्तर्गत पहले ही समस्त आर्थिक, राजनीतिक और आत्मिक जीवन अधिक से अधिक अन्तरराष्ट्रीय बनता जा रहा है। समाजवाद इसे पूर्ण रूप से अन्तरराष्ट्रीय बना देगा। अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति, जो कि अब पहले ही सभी देशों के सर्वहारा वर्ग द्वारा व्यवस्थित रूप से रची जा रही है, 'राष्ट्रीय संस्कृति' को पूरी तरह से अपनाती नहीं है (चाहे वह किसी भी राष्ट्रीय समूह की हो), बल्कि हरेक राष्ट्रीय संस्कृति से केवल उन तत्वों को स्वीकार करती है जो कि निरन्तरतापूर्ण रूप में जनवादी और सामाजिक हैं।" (लेनिन, 'थीसीज़ ऑन नेशनल क्वेश्चन')

इसी प्रकार स्तालिन कहते हैं :

"और यह किसी भी प्रकार से कोई संयोग नहीं है कि ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों के राष्ट्रीय कार्यक्रम में **'विभिन्न जनताओं की राष्ट्रीय विशिष्टताओं का संरक्षण और विकास'** के प्रति चिन्ता शामिल है। ज़रा सोचिए : ट्रांसकॉकेशियाई तातारों *शाख्सेई-वाख्सेई* त्योहार में आत्मपीड़न की 'राष्ट्रीय विशिष्टता' का 'संरक्षण' करना; या जॉर्जियाई लोगों की वंश-बैर जैसी 'राष्ट्रीय विशिष्टता' को विकसित करना...

"इस चरित्र की माँग का किसी सीधे-सीधे बुर्जुआ राष्ट्रवादी कार्यक्रम में ही स्थान हो सकता है।" (स्तालिन, वही, पृ. 279)

पूँजीवादी विकास नैसर्गिक गति से (जिसमें कि प्रवास का कारक भी शामिल है) राष्ट्रीयताओं के बीच की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय विशिष्टताओं की दीवारों को गिराता है। मार्क्सवादी मानते हैं कि यह राष्ट्रीय संस्कृति के लिए घातक नहीं होता है, बल्कि सभी राष्ट्रीय संस्कृतियों को समृद्ध बनाता है। साथ ही, यह मज़दूरों की अन्तरराष्ट्रीयतावादी संस्कृति के निर्माण में भी एक कारक होता है, जो कहीं ऊपर से या बाहर से नहीं आती, बल्कि हर राष्ट्रीय संस्कृति में मौजूद प्रगतिशील तत्वों का एक वैज्ञानिक व ऐतिहासिक अमूर्तन और सामान्यीकरण ही होती है।

हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी लेनिन के एक उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर यह साबित करना चाहते हैं कि मार्क्सवादियों व लेनिनवादियों को दमित राष्ट्रीयताओं के भीतर मौजूद राष्ट्रवाद का विरोध नहीं करना चाहिए। आइए इस पर भी अपना विचार साफ़ कर लेते हैं। इन्होंने एक उद्धरण 'प्रतिबद्ध' की फ़ेसबुक प्रोफ़ाइल से डाला है जिसमें लेनिन कहते हैं कि दमित क़ौमों के क़ौमवाद के हाथों में खेलने के डर से लोग दमनकारी राष्ट्रों के बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के हाथों में खेलने लगते हैं। पहली बात तो यह कि लेनिन के इस उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर पेश किया गया है, जिसे आगे हम पूरा पेश करेंगे ताकि सभी पाठकों को पता चल जाये कि यहाँ लेनिन क्या कह रहे हैं। दूसरी बात, हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी यह नहीं बताते कि यह लेनिन किसके ख़िलाफ़ लिख रहे हैं? लेनिन यह उन लोगों के ख़िलाफ़ लिख रहे हैं जो कि राष्ट्रों के अलग होने समेत आत्मनिर्णय के अधिकार की मुख़ालफ़त कर रहे थे, जैसे कि सेमकोव्स्की। यहाँ लेनिन यह नहीं कह रहे हैं कि दमित क़ौमों के भीतर मौजूद बुर्जुआ क़ौमवाद के ख़िलाफ़ कम्युनिस्टों को नहीं लड़ना चाहिए, बल्कि केवल सेमकोव्स्की की इस दलील का खण्डन कर रहे हैं कि आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना ही दमित राष्ट्र के बुर्जुआ राष्ट्रवाद का समर्थन करना है, **लेकिन लेनिन यह भी कहते हैं कि दमित क़ौमों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करते हुए भी उनके बीच मौजूद बुर्जुआ राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ हमें सतत् संघर्ष करना चाहिए और उसे बेनक़ाब करना चाहिए। अगर हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी गूगल से कोट ढूँढ़ कर अपनी बात को सही साबित करने की बजाय लेनिन की वह पूरी रचना पढ़ते जिससे उन्होंने उद्धरण छापा है, तो उन्हें ख़ुद ही समझ आ जाता। हम आपके सामने यह पूरा उद्धरण पेश कर देते हैं, सन्दर्भ के साथ :**

"श्रीमान सेमोव्स्की हमें भरोसा दिलाते हैं कि आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देना 'बहुत ही कुशल क़िस्म के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हाथों में खेलना है।' *('प्रतिबद्ध' पत्रिका ने जानबूझकर उद्धरण का बस इतना ही हिस्सा पेश किया है क्योंकि इससे आगे लेनिन जो कहते हैं वह उनकी अवस्थिति का ही खण्डन करता है – सम्पादक)* **यह बचकाने क़िस्म की बकवास है क्योंकि इस अधिकार को मान्यता देने का यह अर्थ नहीं है कि अलगाव या बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विरुद्ध प्रचार और उद्वेलन नहीं किया जायेगा। लेकिन यह विवादेतर है कि अलग होने के *अधिकार* से इन्कार करना सबसे कुशल क़िस्म के प्रतिक्रियावादी महारूसी राष्ट्रवाद के 'हाथों में खेलने' के समान होगा!**

"यही रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग की दिलचस्प ग़लती का सार है जिसकी वजह से लम्बे समय तक जर्मन और रूसी (अगस्त 1903) सामाजिक-जनवादियों द्वारा उनकी खिल्ली उड़ायी गयी; दमित राष्ट्रों के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हाथों में खेलने के डर से, लोग केवल बुर्जुआ नहीं बल्कि दमनकारी राष्ट्रों के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के हाथों में खेल बैठते हैं।" *('प्रतिबद्ध' पत्रिका ने जानबूझकर उद्धरण का बस इतना ही हिस्सा पेश किया है क्योंकि इसके पिछले पैराग्राफ़ में लेनिन जो कहते हैं वह उनकी अवस्थिति का ही खण्डन करता है। – सम्पादक)* (Lenin, 1977, 'The National Program of the RSDLP', Collected Works, Progress Publishers, Moscow)

या तो हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार दोस्त ठीक से पढ़ते नहीं हैं, या यदि वे ठीक से पढ़ते हैं, तो उन्होंने लेनिन को जानबूझकर मिसरिप्रज़ेण्ट किया है, जो कि अपने आप में एक बौद्धिक बेईमानी का काम है। **जो भी है, इतना स्पष्ट है कि लेनिन दमित क़ौमों के बीच मौजूद बुर्जुआ राष्ट्रवाद के भी उतने ही विरोधी थे, जितने कि वे किसी भी प्रकार के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के। दूसरी बात, लेनिन राष्ट्रवाद की हिमायत नहीं करते हैं बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष की हिमायत करते हैं। राष्ट्रवाद बुर्जुआ विचारधारा ही होती है।** लेनिन दमित राष्ट्रीयताओं की राष्ट्रीय बुर्जुआज़ी को भी एक बाशर्त समर्थन देने की वकालत करते हैं, जिस हद तक उसकी राजनीतिक अन्तर्वस्तु जनवादी (यानी कि साम्राज्यवाद-विरोधी, औपनिवेशीकरण-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी) होती है। लेनिन इस बात को निम्न उद्धरण में स्पष्ट कर देते हैं :

"इसलिए यह बुर्जुआ वर्ग की *व्यावहारिकता के ख़िलाफ़ जाता है* कि सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने *सिद्धान्तों* को विकसित करें; वे हमेशा बुर्जुआ वर्ग को *केवल बाशर्त* समर्थन देते हैं...

"*जिस हद तक* दमित राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग दमन करने वाले के विरुद्ध संघर्ष करता है, हम हमेशा, और हर मामले में, किसी से भी ज़्यादा मज़बूती से, *इसके समर्थन में होते हैं*, क्योंकि हम दमन के सबसे तीव्र और सबसे निरन्तरतापूर्ण शत्रु हैं। लेकिन जिस हद तक दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग *स्वयं अपने* बुर्जुआ राष्ट्रवाद के लिए खड़ा होता है, हम उसके विरोध में होते हैं...

"*किसी भी* दमित राष्ट्र के बुर्जुआ राष्ट्रवाद में एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु होती है जो दमन के *ख़िलाफ़* निर्देशित होती है, और इस अन्तर्वस्तु का हम *बिना शर्त*, समर्थन करते हैं। लेकिन साथ ही हम इसे राष्ट्रीय विशिष्टता/बहिष्करण की प्रवृत्ति से अलग करते हैं; हम पोलिश बुर्जुआ वर्ग की यहूदियों को दबाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष करते हैं, आदि, आदि।" (Lenin, 1977, 'The Right of Nations to Self-Determination', Selected Works, Volume-1, Progress Publishers, Moscow)

लेनिन ने यहाँ अपनी अवस्थिति सन्देह से परे कर दी है। हम दमित क़ौमों के राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं हैं, बल्कि उनके राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के समर्थक हैं और जिस हद तक बुर्जुआ राष्ट्रवादी इस संघर्ष में साथ होते हैं, हम उन्हें साथ लेते हैं और इससे परे क़तई नहीं। उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा से हमारा कोई मेल नहीं है, बल्कि दमन के विरुद्ध संघर्ष में उनके साथ बाशर्त मोर्चा हो सकता है। आख़िरी पैराग्राफ़ में लेनिन ने यह भी बताया है कि यदि कोई राष्ट्रीयता दमित है तो उसकी बुर्जुआज़ी के राष्ट्रवाद में निरपवाद रूप से एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु भी होगी, जिसका हम समर्थन करते हैं। यह भी बताता है कि यदि कोई राष्ट्रीयता वाक़ई दमित है, तो महज़ उसके मेहनतकश अवाम का ही दमन नहीं होता है, बल्कि उसके पूँजीपति वर्ग का भी दमन होता है। अब यदि पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है तो 'ललकार' के साथियों को बताना पड़ेगा कि पंजाबी पूँजीपति वर्ग का कौन-सा हिस्सा प्रगतिशील है जिसके राष्ट्रवाद में (नकारात्मक तत्वों के अलावा) एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु भी है, जिसका हमें समर्थन करना चाहिए और पंजाब के राष्ट्रीय दमन के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई में उसके साथ मोर्चा बनाना चाहिए! सिर्फ़ इसी पैमाने पर परखने से 'ललकार' के साथियों की विचलनग्रस्त और हास्यास्पद अवस्थिति ज़ाहिर हो जाती है।

माओ के विचार भी इस मामले में देखना उपयोगी होगा। माओ का निम्न उद्धरण स्पष्ट कर देता है कि हम मार्क्सवादी हर प्रकार के राष्ट्रवाद का विचारधारात्मक तौर पर विरोध करते हैं। माओ लिखते हैं :

"इस प्रश्न को हल करने की कुंजी है हान अन्धराष्ट्रवाद को दूर करना। **साथ ही जहाँ कहीं अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद (local-nationality chauvinism) मौजूद हो, वहाँ उसे दूर करने के प्रयास भी किये जाने चाहिए। विभिन्न जातियों की एकता के लिए हान अन्धराष्ट्रवाद और स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद, दोनों ही हानिकर होते हैं। यह जनता के बीच का एक अन्तरविरोध है जिसे हल किया जाना चाहिए।**" (माओ, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में')

भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे 'ललकार' व 'प्रतिबद्ध' के साथियों ने हम पर आरोप लगाया है कि हम उनके भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन की आलोचना करके आरएसएस के घोर प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के पक्ष में खड़े हैं। ऐसे हास्यास्पद आरोप का तो जवाब देना भी बेकार है। उन्हें दिखलाना चाहिए कि ऐसा किस प्रकार है। लेकिन जब वे हमारे द्वारा उठाये गये किसी भी ठोस प्रश्न और आलोचना का जवाब देने की बजाय, बस उन साथियों के बीच हमें दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्ष के विरोधी और आरएसएस के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का हिमायती क़रार देने पर तुले हैं, जिन्हें वे अपनी अवस्थिति पर सहमत करना चाहते हैं, तो फिर इस बात की उम्मीद भी कम ही है कि वे हमारी ठोस आलोचना का कोई ठोस जवाब देंगे। वे बस इन साथियों में क़ौमी जज़्बात को उभाड़कर अपना बचाव करने का प्रयास कर रहे हैं, जिसके लिए महान शिक्षकों को सन्दर्भों से काटकर पेश करने से लेकर तथ्यात्मक त्रुटियाँ करने तक हर तरकीब अपना रहे हैं। हम सभी संजीदा साथियों से यही अपील करेंगे कि इस पूरी बहस में दोनों पक्षों की अवस्थितियों को ग़ौर से पढ़ें और मार्क्सवादी क्लासिक्स को भी पढ़ें और फिर निर्णय करें।

●

(इसके आगे 16 सितम्बर से हमने जो आलोचनात्मक निबन्ध और टिप्पणियाँ पेश की हैं, उनमें से चुनिन्दा को कालानुक्रम से रखा गया है – सम्पादक)

‘महापंजाब’ का आइडिया और राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति : आरज़ी तौर पर विचारार्थ कुछ बातें

(16 सितम्बर 2019, ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज की पोस्ट जो कि ‘ललकार’ के फ़ेसबुक पेज द्वारा महापंजाब के रूमानी यूटोपिया को लेकर रुदन करने वाली वीडियो को शेयर करने की आलोचना के रूप में डाली गयी थी – सम्पादक)

पंजाब में खालिस्तानी पृथकतावाद की लहर को पीछे छूटे हुए एक लम्बा अर्सा बीत चुका है। उस समय खालिस्तानियों को पंजाबी राष्ट्रीय बुर्जुआ का प्रतिनिधि मानकर समर्थन करने वाली एक छोटी-सी क्रान्तिकारी वाम धारा भी थी जिसे विलुप्त होना ही था और वह हो चुकी है। यह बात अजीब नहीं लगती कि अभी भी यहाँ-वहाँ से बीच-बीच में खालिस्तानी पृथकतावाद जैसी आवाज़ें सुनाई पड़ जाती हैं। अजीब बात यह है कि क्रान्तिकारी वाम धारा में भी कभी-कभार पंजाबी ‘बिगनेशन शॉविनिज़्म’ का हैंगओवर अभी भी सिर उठाता रहता है। जैसे अचानक बीच-बीच में यहाँ-वहाँ से कुछ ऐसी आहें और कराहें सुनाई देने लगती हैं कि पिछले 70 वर्षों के दौरान हमारा “गौरवशाली महापंजाब” कितने टुकड़ों में बँट गया और अब हम कितने छोटे से पंजाब में गुज़ारा करने के लिए मजबूर कर दिये गये हैं।

पहली बात 1947 में पंजाब का जो विभाजन हुआ वह देश विभाजन की पूरी राजनीति का एक पार्ट था। और हम पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के उस दौर में भारतीय बुर्जुआ वर्ग और उपनिवेशवादियों के बीच हुई दुरभिसन्धि के सारे परिणामों को अलग से पलट नहीं सकते और इस सवाल को महज़ पंजाबी राष्ट्र के साथ हुए अन्याय के रूप में अलग-थलग करके देखना भी एक अनैतिहासिक नज़रिया होगा। भारत में भाषाई आधार पर राज्यों का जो गठन था वह अलग-अलग राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं की आकांक्षाओं को शान्त करने की एक अधूरी और विरूपित कोशिश थी। दरअसल, भारत सच्चे अर्थों में एक संघात्मक राज्य होने की जगह अन्तरवस्तु की दृष्टि से एक एकात्मक राज्य ही है। लेकिन यह एक सर्वथा दीगर सवाल है। मूल प्रश्न यह है कि क्या आज इतिहास के चक्के को उल्टा घुमाकर हरियाणा और हिमाचल प्रदेश को पंजाब में मिलाकर फिर से एक महापंजाब बनाये जाने की आकांक्षा इस पूरे इलाक़े की (न सिर्फ़ हरियाणा और हिमाचल की बल्कि पंजाब की भी) व्यापक मेहनतकश आबादी की कोई आकांक्षा और माँग है? क्या हरियाणा और हिमाचल की व्यापक जनता की पंजाबीभाषी जनता से अलग कोई पहचान बनती है या नहीं? क्या यह सच नहीं है कि हरियाणा और हिमाचल की हिन्दीभाषी जनता कई उपराष्ट्रीयताओं, जातीय उपराष्ट्रीयताओं और भाषाई अल्पसंख्यक समुदायों का समुच्चय है? क्या इन दो राज्यों की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी कथित रूप से प्रस्तावित महापंजाब में शामिल होने की भावना या आकांक्षा रखती है? सबसे बड़ा सवाल तो यह बनता है कि अगर पंजाब की (और हमें ध्यान रखना होगा कि पंजाब में कार्यरत मेहनतकश आबादी का बड़ा हिस्सा ग़ैर-पंजाबी है चाहे वह खेतों की बात हो या कारख़ानों की) व्यापक मेहनतकश आबादी के बहुलांश की आज यह कोई माँग या आकांक्षा ही नहीं है तो इस मुद्दे को उठाना गड़े मुर्दे को उखाड़ना नहीं है? इतिहास के पन्ने पलटकर देखिए, अतीत में तो यूरोप के बहुतेरे राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के साथ भी कई भीषण अन्याय हुए थे, (पंजाब के साथ ऐसी कोई बात नहीं है) तो क्या अतीत में पीछे जाकर उन ऐतिहासिक ग़लतियों को ठीक किया जा सकता है? यह तो मार्क्सवादी समझ का एक प्रहसन है।

संक्षेप में, यहाँ पर हम राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति के कुछ कुंजीभूत बिन्दुओं को भी अति-संक्षेप में रख दे रहे हैं। लेनिन ने स्तालिन द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर लिखी रचना को पूर्ण अनुमोदन दिया था और कहा था कि “इस शानदार जॉर्जियाई” द्वारा लिखित पुस्तिका को सभी के द्वारा पढ़ा जाना चाहिए। स्तालिन ने इस रचना में ‘राष्ट्र’ को इन शब्दों में परिभाषित किया है : “एक राष्ट्र एक साझा संस्कृति में अभिव्यक्त होने वाली साझा भाषा, साझे परिक्षेत्र, साझे आर्थिक जीवन और साझी मनोवैज्ञानिक बनावट के आधार पर ऐतिहासिक रूप से संघटित होने वाला जनता का एक स्थायी समुदाय है।

“कहने की आवश्यकता नहीं है कि हर ऐतिहासिक परिघटना के समान राष्ट्र भी परिवर्तन के नियमों के

अधीन है, इसका एक इतिहास होता है, इसका एक आरम्भ और अन्त होता है।

"इस बात पर बल दिया जाना अनिवार्य है कि उपरोक्त में से किसी एक चारित्रिक अभिलाक्षणिकता के ज़रिये राष्ट्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसके अलावा अगर उपरोक्त में से एक भी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता न हो तो राष्ट्र राष्ट्र नहीं रह जाता...

"जब ये सारी अभिलाक्षणिकताएँ एक साथ मौजूद हों तभी हम कह सकते हैं कि हमारे समक्ष एक राष्ट्र है।" ('मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न', जे.वी. स्तालिन)

इसी रचना में स्तालिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि दमित राष्ट्रीयता का प्रश्न अविभाज्य रूप से भूमि प्रश्न और औपनिवेशिक प्रश्न से जुड़ा हुआ है। कोई राष्ट्र दमित है या नहीं यह सिर्फ़ इस बात से तय नहीं होता कि सांस्कृतिक या भाषाई तौर पर वह पीछे छूट गया या उसके साथ भाषाई अन्याय हो रहा है क्योंकि ऐसा कई अन्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी हो सकता है और होता रहा है। मिसाल के तौर पर, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक समेकन के कारण, आर्थिक आदान-प्रदान और श्रम और पूँजी की आवाजाही के कारण विशिष्ट ढाँचागत और ऐतिहासिक सन्दर्भ में कोई एक भाषा स्वतः ही सामाजिक अन्तर्क्रिया का चुना हुआ माध्यम बन जाती है। इसके लिए किसी राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को थोपे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। निश्चित तौर पर, राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को किसी राष्ट्रीयता पर थोपे जाने का पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए और शिक्षण-प्रशिक्षण व अन्य अन्तर्क्रियाओं के माध्यम के तौर पर मातृभाषा के प्रयोग के अधिकार के लिए हरसम्भव रूप में लड़ा जाना चाहिए। लेकिन लेनिन ने यह भी बताया है कि यदि कोई भाषा आर्थिक विकास की नैसर्गिक प्रक्रिया में स्वतः ही, राज्यसत्ता के दबाव के बिना ही, चुनी हुई सम्पर्क भाषा बन जाये तो इस गति का विरोध करना भी व्यर्थ और अनैतिहासिक है। इसलिए जैसा कि स्तालिन ने कहा, उपरोक्त पाँचों अभिलाक्षणिकताओं की मौजूदगी के आधार पर ही किसी समुदाय को राष्ट्र का दर्जा दिया जा सकता है और असमाधित भूमि प्रश्न और औपनिवेशिक दमन के आधार पर ही किसी दमित राष्ट्रीयता की सही-सही पहचान की जा सकती है, हालाँकि यह भूमि आधारित व औपनिवेशिक दमन अपने आपको अन्य रूपों को भी अभिव्यक्त करता ही है। क्या इन पैमानों पर महापंजाब का आइडिया एक प्रतिगामी क़िस्म की रूमानियत नहीं है?

यदि इन पैमानों पर राष्ट्रीय दमन मौजूद है और विभाजन उस राष्ट्रीय दमन का परिणाम है तो बेशक किसी महापंजाब के विचार पर सोचा जा सकता है। स्तालिन ने उपरोक्त रचना में ही उदाहरण दिया है कि जॉर्जिया में रूस विरोधी भावना की बजाय आर्मेनिया विरोधी भावना मौजूद है क्योंकि जॉर्जिया में भूस्वामी वर्ग आर्मेनियाई है। क्या इसी रूप में पंजाब के राष्ट्रीय दमन की कल्पना की जा सकती है? इन पैमानों पर विश्लेषण करें तो उल्टे ही नतीजे सामने आयेंगे! यही बात हिमाचल, हरियाणा, दिल्ली और यहाँ तक कि उत्तराखण्ड और उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र में भूस्वामित्व और व्यापार में पंजाबी वर्चस्व के बारे में भी कही जा सकती है। स्तालिन उपरोक्त पुस्तिका में यह भी स्पष्ट करते हैं कि ऐसे राष्ट्रीय दमन की अनुपस्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन केवल बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सकता है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी महापंजाब की माँग की पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश के सर्वहारा वर्ग, ग़रीब किसान वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के बीच कोई अनुगूँज है? और यदि नहीं है तो क्या यह मसला सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी की वर्ग एकजुटता को तोड़ेगा नहीं?

इन पैमानों के आधार पर महापंजाब के आइडिया पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। हम समझते हैं कि बेहद ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी लेखन का गहराई से अध्ययन करें और पंजाब के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय प्रतिगामी नॉस्टैल्जिया से मुक्त हों। भारत के मेहनतकश और भारत के क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन जिन जलते हुए सवालों के रूबरू आज खड़े हैं उन्हें देखते हुए हमें तो यह नितान्त अवान्तर प्रसंग लगता है। इस प्रश्न पर और गहन सैद्धान्तिक अध्ययन और पंजाब, हिमाचल, हरियाणा की ठोस परिस्थितियों और इतिहास के अध्ययन के आधार पर हम विस्तार से फिर अपनी बातें रखेंगे।

इन्दरजीत
रमेश खटकड़
अजय स्वामी

●

हरियाणा में पंजाबी भाषा के प्रश्न पर कतिपय कॉमरेडों के अज्ञान पर संक्षिप्त चर्चा

● अरविन्द

हाल ही में एक चीज़ से सामना हुआ है। कुछ लोग इसे हरियाणा में रहने वाले एक पंजाबीभाषी व्यक्ति के दिल की कराह कह सकते हैं, लेकिन वास्तव में यह तथ्यहीन बातों, अतार्किक भावनाओं और अज्ञान पर आधारित नॉस्टैल्जिक झुकावों के पुलिन्दे से ज़्यादा कुछ नहीं है। राष्ट्रवाद की मरी हुई लाश को ढोने के प्रयास में कुछ लोग अनर्गल प्रलाप की सारी सीमाओं को लाँघने में लगे हैं। 'महापंजाबियत' के नॉस्टेल्जिया में अटके कुछ लोग मनमाफ़िक़ बातों से ज्ञानचक्षुओं को चकाचौंध करने का कार्यभार अपने कन्धों पर उठाये हुए हैं। कोई रूढ़िवादी ऐसा करे तो समझ में आता है किन्तु यदि कोई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी इस तरह से 'अक्कल के पाछै लट्ठ लेकै पड़ जायें' तो कहें किससे और सुनें किसकी?

ये कतिपय कॉमरेड कभी तो कहते हैं कि हरियाणा तो पंजाब ही है, कभी कहते हैं कि हरियाणा में तो बहुतायत में पंजाबी भाषा ही बोली-समझी जाती है और कभी कहते हैं कि हरियाणवी बोलियाँ हिन्दी की बोलियाँ नहीं हैं बल्कि पंजाबी की ही बोलियाँ हैं। ये कतिपय कॉमरेड अब अपनी तथ्यहीन कल्पनाओं में यहाँ तक पहुँच गये हैं कि हरियाणा में पंजाबी लोगों के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, कि बेचारे पंजाबियों को इतना डरा-धमका कर रखा जाता है कि वे यह तक नहीं बता पाते कि उनकी माँ-बोली पंजाबी है! इनका यह भी कहना है कि यहाँ रहने वाली 30 प्रतिशत (यह इनकी निजी गणना है, इसके लिए कोई ठोस आँकड़े नहीं प्रदान किये गये हैं!) पंजाबी आबादी हर जगह अपना क्रिया-व्यापार वैसे तो पंजाबी में करती है, पंजाबी गानों पर नाचती है (!) किन्तु जब कोई सर्वे करने आता है तो अपनी मातृभाषा को छिपाकर थोपी हुई हिन्दी भाषा का नाम ले देती है! इस पर कहें भी तो क्या कहें?

इस तरह के निष्कर्ष राष्ट्रवादी विचलन का शिकार कोई कम्युनिस्ट ही निकाल सकता है, जो तथ्यों और तर्कों के आधार पर बात करने की तार्किक विमर्श की बुनियादी शर्तों को तिलांजलि दे चुका हो। असल में हरियाणा में तो पिछले पाँच साल से न केवल मुख्यमंत्री पंजाबी समुदाय से था बल्कि उसकी कैबिनेट में कई मंत्री तक इसी समुदाय से थे। हरियाणवी राजनीति और अर्थतंत्र में ऊपर से नीचे तक पैठ करने वाले पंजाबी व्यापारी व फ़ार्मर वर्ग के लोग भला किसी अदना से सर्वे करने वाले के सामने अपनी भाषा क्यों छिपायेंगे? आम पंजाबीभाषी लोग भी ऐसा नहीं करेंगे। हरियाणवी राजनीति के इतिहास में एक समय तो ऐसा था जब 30 विधायक पंजाबी समुदाय से थे जिनमें 11 मंत्री भी थे।

हरियाणा के भीतर पंजाबीभाषी आबादी के वास्तविक आँकड़ों पर हम आगे आयेंगे लेकिन इन लोगों के "तर्कों" के अनुसार पंजाबी गानों पर नाचना भी पंजाबी होने का एक पैमाना है! यदि कोई पंजाबी गाने पर नाच लेता है तो क्या इसे उसके पंजाबी होने के आधारों में से एक माना जा सकता है? इस तर्क पर चलें तो निष्कर्ष भयंकर निकल सकते हैं। आज सपना चौधरी के ठुमकों के साथ फूहड़ हरियाणवी गानों को कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक किसी-न-किसी को देखते-सुनते हुए पाया जा सकता है, तो इसका मतलब सब हरियाणवी तो नहीं हो गये! बाज़ारू पंजाबी गाने तो पूरे देश में शादियों में, पार्टियों में, जिमों में बजते रहते हैं। लोग उस पर नाचते पाये जा सकते हैं! लेकिन इससे उनकी भाषाई और राष्ट्रीय पहचान नहीं निर्धारित होती है।

कोई भाषा-समुदाय और यहाँ तक कि राष्ट्रीयता भी हर वस्तु की तरह गतिमान अवस्था में होते हैं। वस्तुएँ स्थिर और गतिहीन केवल और केवल कूपमण्डूकों के दिमाग़ में होती हैं। जिसकी अक्कल के बारह बाट हो गये हों आज वही हरियाणा ही नहीं बल्कि भारत में भी पंजाबियों की शासन-सत्ता में हिस्सेदारी को नकार सकता है। वोट बैंक के व्यापारी यदि गाहे-बगाहे किसी समुदाय-विशेष को निशाना बनाते हैं – जो कि निश्चय ही ग़लत है – तो इसका यह मतलब तो नहीं होता कि उक्त समुदाय को आम तौर पर दबाकर रखा जा रहा है या वह दमित समुदाय/राष्ट्रीयता/अस्मिता है। इतिहास में पहले भी ऐसा हुआ है कि किसी आर्थिक रूप से शक्तिशाली मगर धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संकट हावी होने पर शासक वर्गों ने निशाना बनाया हो, या वे निशाना बने हों। जब भी वर्ग अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते हैं, तो वे धार्मिक, नस्ली, जातिगत तौर पर ग़लत अभिव्यक्ति पाते हैं यानी मिसआर्टिक्युलेट होते हैं। हालाँकि यह मिसाल हमारे देश पर पूरी तरह लागू नहीं होती लेकिन फिर भी हमारे तर्क को समझने के लिए महत्वपूर्ण है : अमेरिका में यहूदियों को कई बार एण्टीसेमिटिज़्म के कारण निशाना बनाया जाता है, लेकिन फिर भी आर्थिक और राजनीतिक तौर पर वे वर्चस्वकारी स्थिति में हैं। अमेरिका के शासक वर्ग में उनकी अच्छी हिस्सेदारी है। **कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज की शोषणकारी व्यवस्था में किसी भी समुदाय के ग़रीब तो हर जगह दमित और शोषित हैं ही। शासक वर्ग भाषा-क्षेत्र-**

जाति-धर्म के आधार पर जनता को लड़ाता ही है लेकिन जब क्रान्तिकारी ही राष्ट्रवादी विचलन या बिग नेशन शॉविनिज़्म, इतिहास के प्रति किसी तथ्यहीन नॉस्टेल्जिया और भाषाई शुद्धतावाद के शिकार होकर लोगों के बीच कृत्रिम दीवारें खड़ी करने लग जायें तो यह दुखदायी ही होगा।

हम यह बात बचपन से ही रटते आये हैं कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है किन्तु भारत को विडम्बना-प्रधान देश कहा जाना चाहिए। इन विडम्बनाओं की भी अपनी एक श्रृंखला और तार्किकता है। आप परिघटनाओं की पूरी लड़ी में से एक कड़ी को पकड़कर उसका खूँटा गाड़कर उसके गिर्द ता-ता-थैया करेंगे तो कूपमण्डूक ही कहलायेंगे भले ही आपका प्रयोजन कूपमण्डूक कहलवाने का न भी रहा हो। कतिपय कॉमरेड लोग भी ऐसा ही कर रहे हैं। चीज़ों को समझने के लिए उन्हें सम्पूर्णता में देखा जाना चाहिए वरना कभी आपके हाथ में सींग आयेगा, कभी पूँछ और कभी आपको दुलत्ती भी नसीब हो सकती है। भारत की औपनिवेशिक ग़ुलामी, अंग्रेज़ों द्वारा पोषित साम्प्रदायिक राजनीति और धार्मिक आधार पर विभाजन इन सभी को आप अलग-अलग नहीं बल्कि एक श्रृंखला में ही समझ सकते हैं। भाषाई आधार पर हुए राज्य विभाजन में भी शासक वर्ग अपने हितों की पूर्ति की गुंजाइश तलाशता ही है लेकिन यह एक अलग मसला है और इस पर आगे आयेंगे। अधकचरी समझदारी न केवल कट्टरता के सीमान्तों को छू सकती है बल्कि इन कतिपय कॉमरेडों को राष्ट्रवादी विचलन और बिग नेशन शॉविनिज़्म के पंककुण्ड में भी धकेल सकती है।

कोई भी पहचान या अस्मिता चाहे वह भाषाई हो, क्षेत्रीय हो, जातीय हो, धार्मिक हो या फिर राष्ट्रीय ही क्यों न हो, न तो फूलकर कुप्पा होने की चीज़ होती है और न ही शर्मिन्दगी से मुँह छुपा लेने की चीज़ होती है। ये पहचानें व्यक्ति को पूर्व प्रदत्त होती हैं। मार्क्सवाद का मानना है कि ये अपने आप में अन्तरविरोध का स्रोत या स्थल नहीं होतीं। ये वर्ग अन्तरविरोधों की ग़लत समझदारी या मिसआर्टिक्युलेशन के कारण अन्तरविरोध का स्रोत बन जाती हैं। जहाँ तक राजनीतिक वर्ग पक्ष का प्रश्न है तो व्यक्ति विभिन्न सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यक्तिगत सन्दर्भों के आधार पर अपना वर्गीय पक्ष चुनता है। सन्तुलित नज़रिये और कट्टरता के बीच की सीमा रेखा इतनी भी महीन नहीं होती कि वह नज़र ही न आये। हमारे लिए हरियाणवी, पंजाबी या कोई भी क्षेत्रीय या भाषाई पहचान न तो महिमामण्डन की चीज़ होनी चाहिए तथा न ही हमारे द्वारा अतार्किक होकर अन्य पहचानों-अस्मिताओं को नकारने का प्रयास होना चाहिए। लेकिन लगता है कतिपय कॉमरेड लोग महापंजाबियत के काल्पनिक नॉस्टैल्जिया (इसके कई संस्करण हो सकते हैं, जैसे कि 1947 के पहले के पंजाब को वापस हासिल करना, 1966 के पहले के पंजाब को हासिल करना, या 1966 के पुनर्गठन की जगह नये भाषाई पुनर्गठन का ऐसा फ़ार्मूला सुझाना जिससे कुछ और ज़िले पंजाब में जुड़ जायें) और बिग नेशन शॉविनिज़्म की ख़ुमारी के पर्दे की वजह से साफ़ दिखाई दे रहे यथार्थ को देख ही नहीं पा रहे हैं।

अब इन कतिपय कॉमरेडों के "तथ्यों" और वास्तविक तथ्यों पर आते हैं।

हरियाणा में पंजाबीभाषी आबादी : कुछ तथ्य

हमारे कतिपय कॉमरेड कुछ "माहिर लोगों" के हवाले से हरियाणा की कुल आबादी में पंजाबी भाषियों की संख्या 30 प्रतिशत बता रहे हैं। नेशनल कमिश्न फ़ॉर लिंग्विस्टिक माइन्योरटीज़ (NCLM) के 2008 के एक पत्रक के अनुसार हरियाणा में बहुसंख्यक हिन्दी भाषी हैं जो कुल आबादी का 91 प्रतिशत हैं। इसी पत्रक के अनुसार पहले भाषाई अल्पसंख्यक पंजाबी हैं जो कुल आबादी का 7.11 प्रतिशत हैं तथा दूसरे भाषाई अल्पसंख्यक उर्दू भाषी हैं जो कुल आबादी का 1.99 प्रतिशत हैं (सन्दर्भ – Minority Languages in India - Thomas Benefited, March 2013, तालिका - 10, पृष्ठ संख्या - 36)। इकोनॉमिक एण्ड स्टेटिस्टिकल एनालिसिस डिपार्टमेण्ट के अनुसार हरियाणा में 87.31 प्रतिशत आबादी हिन्दी भाषी है जबकि 10.57 प्रतिशत आबादी पंजाबी भाषी, 1.23 प्रतिशत आबादी उर्दू भाषी और 0.89 प्रतिशत आबादी अन्य भाषाभाषी है (सन्दर्भ लिंक – http://esaharyana.gov.in/Data/StateStatistical Abstract/StatisticalAbstract(2013-14).pdf?fbclid=IwAR2nN-RJKa8D7NiJUoSTmBJomK_z3WW0sDvEhtpztmklEpQsAYVJulKM2l4)। हरियाणा के सिरसा ज़िले में पंजाबी भाषी आबादी बाक़ी सभी ज़िलों से अधिक है जिसका प्रतिशत 65.94 प्रतिशत है (सन्दर्भ – उपरोक्त)। **लेकिन मूल बात यह है कि क्या दोनों ही राज्यों की जनता की यह जनमाँग है कि भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हो?** लेकिन पता नहीं क्यों कुछ "माहिर लोगों" के हवाले से इन कतिपय कॉमरेडों ने मनमाफ़िक़ आँकड़ों की झड़ी लगा दी है, जैसे कि उनके अनुसार सिरसा में 75 प्रतिशत पंजाबीभाषी हैं! न तो वे प्रस्तुत आँकड़ों का कोई सन्दर्भ देते हैं, न ही सरकारी और ग़ैर-सरकारी आँकड़ों को मान्यता देते हैं तथा न ही सिरसा के पूरे ज़िले के पैमाने पर अपने द्वारा जुटाये गये आँकड़ों या नमूना सर्वेक्षण की ही प्रस्तुति कर रहे हैं। इस पर हम करें तो क्या करें कबीरा कही न जाये! **लेकिन हमारा मूल तर्क यह है ही नहीं। इस तर्क से तो बहुत से ज़िलों या क्षेत्रों या गाँवों के राज्यों में विभाजन पर बहस हो सकती है, जैसे कि अबोहर और फाजिल्का के 83 हिन्दीभाषी गाँव। लेकिन यह न तो वहाँ की जनता की कोई माँग है और न ही यह हरियाणा के किसी क्षेत्र की जनता की माँग है कि राज्यों का पुनर्गठन किया जाये।**

वैसे तो भाषाई कट्टरता का कीड़ा पैदा किया जाये तो पैदा हो भी सकता है, लेकिन आज के दौर में यह कोई जीवन्त मसला ही नहीं है। यह एक अलग बात है कि सिरसा समेत हर राज्य के हर ज़िले में जनता के विभिन्न हिस्सों को अपनी मातृभाषा में पढ़ने के विकल्प उपलब्ध होने चाहिए, चाहे व पंजाबीभाषी हो, हिन्दीभाषी हो या कोई और भाषा बोलने वाला।

यह सच है कि सरकारी आँकड़ों को हम हमेशा आलोचनात्मक निगाह से देखते हैं। विशेष तौर पर लेबर इकनॉमिक्स के आँकड़ों को कम्युनिस्ट हमेशा ही सन्देह से देखते हैं, क्योंकि इनका मक़सद होता है व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन के हालात को छिपाना या उनकी एक ग़लत तस्वीर पेश करना, हालाँकि उसकी भी एकदम हवाई और काल्पनिक तस्वीर पेश करना मुश्किल होता है क्योंकि शासक वर्ग ख़ुद भी इन आँकड़ों का जरूरतमन्द होता है। लेकिन अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई व अन्य नृजातीय आँकड़ों की आवश्यकता राज्यसत्ता को शासक वर्ग हेतु नीति-निर्माण के लिए होती है और इन आँकड़ों में सटीकता के अभाव के बावजूद (वैसे कोई भी आँकड़े पूरी तरह सटीक नहीं हो सकते हैं!) इनमें ऐसा फ़र्क़ भी नहीं हो सकता है कि 10 प्रतिशत का 30 या 40 प्रतिशत बन जाये। लेकिन हमारे कतिपय कॉमरेडों का ज़ोर सिर्फ़ एक बात पर है कि पंजाबी भाषियों के ख़िलाफ़ आर्य समाज, आरएसएस व हरियाणा के तीनों लाल षड्यंत्ररत रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मनोहर लाल खट्टर को ये पंजाबी होने के चलते छूट देते हुए चल रहे हैं! 2016 में जाट आरक्षण आन्दोलन के समय निश्चय ही पंजाबियों को निशाना बनाया गया किन्तु उसका कारण शासक वर्ग की चालबाज़ियाँ और बँटवारे की राजनीति है। सच तो यह है कि ग़ैर-जाट आबादी को आम तौर पर निशाना बनाया गया था। शासक वर्ग यही तो करता है। यानी जनता के सामने झूठे दुश्मन खड़े करना, फूट डालना और राज करना और बहुसंख्यवाद की लहर में व्यापक मेहनतकश अवाम को बहा देना। क्या इस साधारण-सी बात को समझने के लिए किसी आकाशवाणी की दरकार है? क्या हरियाणा के शासक वर्ग में केवल किसी एक समुदाय या क्षेत्र विशेष से ताल्लुक रखने वाले लोग हैं? क्या शासक वर्ग में तमाम जातियों के धन्नासेठ और पैसेवाले नहीं हैं? ज़ाहिर है कि जो समुदाय आबादी में भी सबसे बड़ा होता है, आम तौर पर (हमेशा नहीं) शासक वर्ग में भी उसकी हिस्सेदारी अन्य समुदायों से ज़्यादा होती है, चाहे वह समुदाय जातिगत हो, भाषागत, राष्ट्रीय या जातीय (एथनिक)। लेकिन ये कतिपय कॉमरेड इस तरह से बात कर रहे हैं कि जैसे यहाँ की हिन्दीभाषी और पंजाबीभाषी मेहनतकश जनता के बीच ही कोई चीन की दीवार हो।

हम इस पर सहमत हैं कि हरेक को उसकी मातृभाषा में पढ़ने और व्यवहार का हक़ मिलना चाहिए और सभी के पास प्राथमिक शिक्षा यानी शुरू से ही मातृभाषा में पढ़ने-लिखने का अवसर होना चाहिए। हरियाणा की सरकारों के द्वारा पंजाबी की बजाय तेलुगू या तमिल को दूसरी भाषा का दर्जा देने के हम भी पक्ष में नहीं हैं। असल में दूसरी भाषा को चुनने और पढ़ने का विकल्प स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिए।

मातृभाषा को दबाने का विरोध करना सही है लेकिन इस मुद्दे पर दोहरा बर्ताव करना ग़लत है!

मातृभाषा के दमन के हर प्रयास का विरोध क़तई जायज़ है। लेकिन जब दूसरी आबादी के भाषाई दमन पर आप मौन रहेंगे और उसपर एक शब्द भी नहीं उचारेंगे तो आपको क्या कहा जायेगा?! बेशक अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को भी तवज्जो दी जानी चाहिए तथा इसके लिए सरकारों पर दबाव डालना चाहिए। लेकिन जब हिमाचल प्रदेश और हरियाणा पंजाब का हिस्सा थे और यहाँ पंजाबी थोपी हुई थी, तो उस घटना को आप गोल कर जायेंगे और इतिहास की उस ग़लती पर क्यों कुछ नहीं बोलेंगे? क्या आपको पता है कि 1986 में अबोहर व फाजिल्का नामक दो हिन्दी भाषी क़स्बों और 83 हिन्दी भाषी गाँवों को इसलिए हरियाणा में नहीं मिलने दिया गया क्योंकि कन्दूखेड़ा नामक पंजाबी भाषियों का मात्र एक गाँव बीच में पड़ता था। *(सन्दर्भ लिंक हेतु कृपया फ़ेसबुक पोस्ट देखें – सम्पादक)* क्या राष्ट्रवादी विचलन के शिकार इन कतिपय कॉमरेडों को जनता को लड़ाने और भाषाई-धार्मिक-क्षेत्रीय आधार पर बाँटने की पंजाब के शासक वर्ग की कारगुज़ारियों का पता ही नहीं है? क्या वे बहुत भोले व अज्ञानी हैं या राष्ट्रवादी विचलन और बिग नेशन शॉविनिज़्म का चश्मा और भाषाई कट्टरतावाद का मोतियाबिन्द उन्हें पंजाबियों में मौजूद शोषक-शासक वर्ग को पहचानने ही नहीं देता?!

सिरसा समेत हरियाणा के अन्य ज़िलों की पंजाबीभाषी आबादी के लिए आप माँग करते हैं कि इनका पढ़ाई-लिखाई से लेकर सभी दफ़्तरी काम, सब कुछ पंजाबी में होना चाहिए किन्तु पंजाब में लाखों की संख्या में खट रही बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि से आयी मेहनतकश आबादी के लिए आपके झोले में कुछ भी नहीं है? अबोहर-फाजिल्का क्षेत्र के हज़ारों हिन्दी भाषी लोगों के लिए भी आपके पास कहने-सुनने के लिए कुछ नहीं है? क्या उन्हें भी हिन्दी में पढ़ने-लिखने और सरकारी कामकाज का अधिकार नहीं है? पंजाब के लिए तो आपकी माँग है कि पूरी शिक्षा, पूरा सरकारी कामकाज, न्यायपालिकाओं व दफ़्तरों का काम केवल पंजाबी में होना चाहिए! तो फिर यही तर्क हरियाणा के उन क्षेत्रों पर क्यों नहीं लागू करते जहाँ पंजाबीभाषी आबादी एक विचारणीय अल्पसंख्या है। यह है आपका दोहरा पैमाना। राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई कट्टरतावाद के झोल में आप यह तक भूल रहे हैं कि कोई भी भाषाभाषी समूह दीवारों के

बीच नहीं रहता बल्कि उसे भी अपने आस-पास की आबादी से व्यवहार करना पड़ता है। भाषाएँ भी स्वतःस्फूर्त तरीक़े से ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया में अन्ततोगत्वा आपस में घुलती-मिलती हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं।

चाहे सिरसा का मसला हो या फतेहाबाद का (फतेहाबाद में तो वैसे भी पंजाबीभाषी बहुसंख्यक नहीं हैं), **मूल बात यह है कि आज जब देश की जनता के लिए तमाम सामाजिक-आर्थिक मसले और साथ ही राजनीतिक मसले अहम बने हुए हैं और जब राज्यों का पुनर्गठन किसी भी रूप में जनता की जीवन्त माँग है ही नहीं, तो यह माँग उठाकर दोनों राज्यों की जनता के बीच एक फूट डालने की सम्भावना क्यों पैदा की जाये?** जल्द ही यह माँग कोई बुर्जुआ पार्टी ले उड़ेगी जो कि इसके आधार पर मेहनतकश जनता के बीच ही दीवार खड़ी कर देगी। **ग़ौर करें कि हम इसके साथ मातृभाषा में शिक्षण व सभी राजकीय कामकाज के अधिकार की पूरी तरह हिमायत करते हैं और इसका एक मार्क्सवादी के लिए बुर्जुआ राष्ट्र में प्रान्तों की टेरीटोरियल सीमाओं से कोई लेना-देना नहीं होता है।** मिसाल के तौर पर, सोवियत रूस में मॉस्को व पीटर्सबर्ग में भी एक दागिस्तानी छात्र को भी दागिस्तानी में पढ़ने का हक़ था। कोई कह सकता है कि यह तो समाजवादी राज्य में ही सम्भव है। निश्चित तौर पर। लेकिन हमारी माँगें राजनीतिक सहीपन के अनुसार तय होती हैं, हमेशा इस आधार पर तय नहीं होतीं कि पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर क्या सम्भव है, ख़ास तौर पर तब जबकि इसके कारण मेहनतकश जनता के बीच की एकता ही टूटने का ख़तरा हो।

बागड़ी बोली का प्रश्न

साथ ही कतिपय कॉमरेड लोग तथ्यों की तो बेशुमार ग़लतियाँ करते चले गये हैं। सभी ग़लतियों के वर्णन और उन्हें ठीक करने में तो कई रातें काली करनी पड़ सकती हैं इसलिए हम कुछ को ही इंगित कर रहे हैं। एक जगह ऐसे लोग भारत सरकार के हवाले से कहते हैं कि बागड़ी पंजाबी की बोली है (ऐसे लोग आवश्यकता के अनुसार सरकारी आँकड़ों पर भरोसा कर या नहीं कर सकते हैं!), जबकि असल बात यह है कि बागड़ी के अलग-अलग रूप हिन्दी और पंजाबी दोनों की ही बोलियों में शामिल हैं। बागड़ी को शाब्दिक तौर पर भी लें तो समझ आ जाता है कि यह बगड़ क्षेत्र की बोली है। इसे बोलने वाले मुख्य तौर पर राजस्थान और राजस्थान की सीमा से लगते हरियाणा, पंजाब, गुजरात के इलाक़ों में पाये जाते हैं तथा क्षेत्रीय भिन्नताओं के साथ बागड़ी बोली के भी विविध रूप प्रचलित हैं। **बागड़ी भाषा पर हुए तमाम अध्ययनों के अनुसार बागड़ी बोली की लेक्सिकल समानता 65 प्रतिशत हरियाणवी के साथ है और इसका सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट-वर्ब ऑर्डर भी हरियाणवी से बिल्कुल क़रीब है। इसकी पंजाबी से कुछ समानता फ़ोनोलॉजिकल टोंस के आधार पर है। लेकिन सापेक्षिक रूप से यह ज़्यादा निकट हरियाणवी व राजस्थानी के ही है न कि पंजाबी के। लेकिन फिर भी इसे हरियाणवी, पंजाबी और राजस्थानी के बीच की सेतु बोली भी कहा गया है, जिसमें इसकी ज़्यादा क़रीबी हरियाणवी और कुछ अध्येताओं के अनुसार राजस्थानी के साथ है। एम. पॉल ल्यूइस के अनुसार, बागड़ी राजस्थानी का अंग बनती है ('एथनोलॉग, लैंग्वेजेस ऑफ़ दि वर्ल्ड', सोलहवाँ संस्करण, डलास, टेक्सास, एसआईएल इण्टरनेशनल)।** यह तो रही बागड़ी के बारे में तथ्यों की बात। लेकिन यही असल बात नहीं है।

असल में तो इन कतिपय कॉमरेडों के द्वारा हिन्दी और पंजाबी को जिस तरह से दुश्मन के तौर पर खड़ा किया जा रहा है वह तरीक़ा ही अनुचित है। शासक वर्ग की कुचेष्टाओं का बिल्कुल विरोध होना चाहिए लेकिन क्या हिन्दी और पंजाबी एक ही भाषा परिवार हिन्द-ईरानियन भाषा समूह का हिस्सा होने के नाते सहोदराएँ नहीं हैं? क्या भाषाओं के मामले में कट्टरता अपनाकर किसी भाषाभाषी समूह को लोहे की दीवारों में रखा जा सकता है? बोलियों और भाषाओं के अन्तर्सम्बन्धों पर राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई कट्टरतावाद के शिकार इन कतिपय कॉमरेडों ने जो ज्ञान वर्षा की है उसे यदि कोई सच्चा भाषा-वैज्ञानिक पढ़ ले तो उसे दिल का दौरा पड़ सकता है।

इनका कहना है कि हरियाणा की बोलियों को हिन्दी की बोलियाँ नहीं कहा जा सकता! साथ ही ये इसी सन्दर्भ में एक और अवधारणा लाते हैं – उप-भाषा! लेकिन असल में इन्होंने भाषा, उप-भाषा और बोलियों के अन्तर्सम्बन्धों को समझने की कोशिश ही नहीं की है और बिना बात के ही मास्टरजी बन बैठे हैं।

हरेक बोली भाषा के तौर पर कैसे विकसित हो सकती है? **मज़ेदार बात यह है कि हमारे कतिपय कॉमरेड इसी तर्क को पंजाबी भाषा पर लागू नहीं करते, क्योंकि उस तर्क के अनुसार तो पंजाबी की सभी बोलियों को स्वतंत्र भाषाओं के रूप में विकसित हो जाना चाहिए या किया जाना चाहिए! आप ख़ुद बतायें कि पश्चिमी पंजाब में बोली जाने वाली बोलियों में मुलतानी, डेरावाली, अवाणकारी और पोठोहारी एवं पूर्वी पंजाबी की बोलियों में पहाड़ी, माझी, दूआबी, पुआधी, मलवई और राठी इत्यादि स्वयं भाषाओं के तौर पर विकसित क्यों नहीं हो गयीं? यानी कि अन्य सभी भाषाओं की बोलियों को स्वतंत्र भाषाओं में विकसित हो जाना चाहिए, लेकिन पंजाबी की बोलियों को नहीं! क्या केवल हिन्दी पर ही आपकी जाड़ बजती है?** हिन्दी के निर्माण और फैलाव के पीछे चाहे जो भी कारण रहे हों किन्तु हिन्दी आज करोड़ों लोगों द्वारा बोली जाने वाली एक जन-भाषा है। उसमें भी स्तरीय लेखन और साहित्य मौजूद है। हिन्दी को विकसित करने में बहुत-सी बोलियों का अक्षुण्ण योगदान है, उसमें भी सबसे ज़्यादा हरियाणवी के सबसे क़रीब पड़ने वाली खड़ी बोली का योगदान

है। हरियाणा क्षेत्र की हिन्दी की बोलियों पर आगे अलग से संक्षिप्त चर्चा की गयी है। जिस तरह से पंजाबी भाषा को लेकर आपके दिल में दर्द है वैसे ही हिन्दी के बारे में अनाप-शनाप सुनने के लिए हिन्दीभाषी भी अभिशप्त नहीं हैं। भाषा सबसे पहले एक अभिव्यक्ति का साधन है तथा यह भी जीवित चीज़ के समान गतिमान है। शासक वर्ग के प्रयोजनों – जिनकी हम भी मुख़ालफ़त करते हैं – को एक तरफ़ रख कर हिन्दी को उसके ऐतिहासिक विकास क्रम में रखकर सोचें तब हो सकता है आपको हिन्दी को लेकर इस तरह की तकलीफ़ न हो जैसे अब हो रही है।

हरियाणवी बोलियों का सवाल

देसवाली, बांगरू, बागड़ी, ब्रज, मेवाती, अहीरी, कौरवी, अम्बालवी इत्यादि नामों से ख्यात बोलियाँ हरियाणा के क्षेत्र में बोली जाती हैं। ये बोलियाँ एक दूसरे के काफ़ी नज़दीक भी हैं। **यह ज़रूरी नहीं होता कि हरेक बोली भाषा के तौर पर विकसित हो सके।** और इसका बाद में कृत्रिम रूप से प्रयास करना वस्तुतः ऐतिहासिक तौर पर प्रतिक्रियावादी ही माना जायेगा। इस तर्क से तो हिन्दी किसी न किसी बोली से ही विकसित होनी चाहिए थी लेकिन हिन्दी ने बहुत-सी बोलियों और नये शब्दों के साथ ख़ुद को समृद्ध किया है, किसी से ज़्यादा तो किसी से कम। आमतौर पर होता यह है कि विभिन्न बोलियों का साहित्य (लिखित या अलिखित) और शब्दभण्डार भाषा को आधार मुहैया कराता है। आगे चलकर मानकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रने के बाद कोई भाषा ढलती है और विकसित होती है। भाषा के विकसित हो जाने के लम्बे समय बाद तक भी बोलियाँ जीवित रह सकती हैं। यहाँ पर हमारा इस बात से क़तई इन्कार नहीं है कि हिन्दी समेत किसी भी भाषा के थोपे जाने का विरोध करना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट होना चाहिए कि हरियाणा की विभिन्न बोलियाँ और इनके शब्दभण्डार हिन्दी से जाकर मिलते हैं न कि पंजाबी या किसी और भाषा में। हरियाणा प्रदेश के बांगर, खादर, नैळी और बागड़ से लगते इलाक़ों में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों में से कुछ पर पंजाबी का प्रभाव अवश्य हो सकता है लेकिन इन्हें पंजाबी भाषा और इसकी बोलियाँ तो नहीं ही समझ सकते। यह प्रभाव भी पूर्णतः सापेक्षिक चीज़ है। किन्हीं भी दो भाषाओं के क्षेत्रीय सीमान्तों (टेरीटोरियल लिमिट्स) के आस-पास बोली जाने वाली दोनों ही भाषाओं के लेक्सिकॉन, फ़ोनोलॉजी और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम पर दूसरी भाषा का कुछ प्रभाव होता ही है। यूरोप की सभी भाषाओं के सन्दर्भ में और भारत की भी तमाम भाषाओं के सन्दर्भ में यह बात देखी जा सकती है।

दूसरी बात, सीमित समय के लिए पेप्सू के अन्तर्गत आने के कारण जीन्द और हरियाणा के अन्य इलाक़ों का इतिहास नहीं बदल जाता। यदि हरियाणा का क्षेत्र ऐतिहासिक तौर पर पंजाब का हिस्सा रहा होता तो यहाँ की भाषा पंजाबी होती जो कि नहीं है। क्या 'पेप्सू' Patiala and East Punjab States Union (PEPSU) के अन्तर्गत आने वाले जीन्द और दादरी के इलाक़ों की बहुसंख्यक आबादी की भाषा पंजाबी रही है? नहीं, यह हिन्दी की ही बोलियों में से एक बांगरू और खड़ी बोली रही है। क्या हरियाणा का हिस्सा या पूरा हरियाणा ही पेप्सू या तथाकथित महापंजाब के अन्तर्गत आने के कारण पंजाब हो जाते हैं? नहीं। क्योंकि हरियाणा ऐतिहासिक तौर पर सल्तनत, मुगल, राजपूत, मराठा और ब्रिटिश शासन के अधीन भी रहा है। स्वयं पंजाब ही ऐतिहासिक तौर पर मराठों, राजपुताना और मुगलों व तुर्कों के क़ब्ज़े में रह चुका है। इसकी वजह से आज अगर उस पर राजस्थान या मराठा दावा ठोक दें, तो? तो भी यह उतनी ही मूर्खतापूर्ण बात होगी! जब हमारी बात का आधार कल्पना और इतिहास की कोई ख़ुशफ़हमी हो तो यह हास्यास्पद निष्कर्षों तक ले जाने में सहायक सिद्ध हो सकती है। यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि हरियाणा में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियाँ किसी भी तौर पर पंजाबी या अन्य भाषा की बजाय हिन्दी से जुड़ती हैं। असल में हिन्दी को दुत्कारने और हरियाणवी बोलियों के स्वतंत्र अस्तित्व की बात करने के पीछे इन कतिपय कॉमरेडों का असली मन्तव्य येन-केन-प्रकारेण हरियाणा को पंजाबियत और आगे चलकर महापंजाब (जिसके, जैसा कि हम कह चुके हैं, कई संस्करण हो सकते हैं) नामक यूटोपिया से जोड़ने का प्रतीत होता है। चूंकि भाषा किसी भी राष्ट्रीय पहचान के प्रमुख तत्वों में से एक होती है इसीलिए इस तरह की उलटबासियों के प्रदर्शन हो रहे हैं। लेकिन हम ठीक भाषाई आधार पर ही महापंजाब के घोलमट्ठे में मुख्यतः और मूलतः हिन्दीभाषी हरियाणा की मिलावट को आसानी से ख़ारिज कर सकते हैं।

क्या भाषाई आधार पर इलाक़ों के पुनर्विभाजन की माँग उचित है?

मातृभाषा में पढ़ाई और व्यवहार पर हम अपनी बात ऊपर कर आये हैं लेकिन राष्ट्रवादी विचलन के शिकार हमारे कतिपय कॉमरेड भाषाई आधार पर फिर से पुनर्विभाजन की माँग उठा रहे हैं। सिरसा में पंजाबीभाषियों का संकेन्द्रण अधिक हो सकता है, लेकिन ऐसा तो पंजाब के भी कुछ ज़िलों के बारे में कहा जा सकता है, कि वहाँ कुछ क्षेत्रों या गाँवों में हिन्दीभाषी आबादी संकेन्द्रित है। लेकिन असली बात यह है कि भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज दोनों ही राज्यों की व्यापक मेहनतकश जनता के लिए कोई जीवन्त मसला नहीं है।

ठीक उसी प्रकार चण्डीगढ़ को पूर्णतः पंजाब में शामिल करने की माँग भी आज सही नहीं ठहरती। भाषा के भी आधार पर देखा जाये तो वहाँ 73 प्रतिशत आबादी हिन्दीभाषी है और 22 प्रतिशत पंजाबीभाषी। यह सच है कि इतिहास में

(पेज 65 पर जारी)

लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद के ख़तरे

● **सम्पादक मण्डल, 31 अक्टूबर 2019**

कम्युनिस्ट आन्दोलन में लोकरंजकतावाद (Populism) और अस्मितावाद (Identity politics) हमेशा ही एक ख़तरनाक विजातीय प्रवृत्ति की भूमिका निभाते रहे हैं। लोकरंजकतावाद कई क़िस्म का हो सकता है। एक बुर्जुआ सचेतन होता है। लेकिन दूसरे प्रकार का लोकरंजकतावाद और अस्मितावाद कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर होता है, जिसमें कई बार तो लोग अनजाने और मासूमियत में इसके शिकार हो जाते हैं, तो कई बार कठिन परिस्थितियों और प्रश्नों का जवाब दे पाने की अक्षमता के कारण। जब वे जीवित प्रश्नों से टकराने का कारगर रास्ता नहीं निकाल पाते हैं, तो लोकरंजकतावाद और किसी प्रकार के अस्मितावाद के आत्मघाती कुचक्र में जा फँसते हैं।

हाल ही में एक बेहद सस्ते और उथले क़िस्म का लोकरंजकतावाद भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रीय अस्मितावाद के रूप में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की कुछ क़तारों में प्रवेश कर गया है। कुछ वामपन्थी बुद्धिजीवियों में ऐसा रुझान पहले भी था। आज वह कुछ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जमातों में भी दिखलाई पड़ रहा है। जिन पाठकों ने पिछले दिनों आह्वान के फ़ेसबुक पेज से की गयी पोस्टों को पढ़ा है, वे जानते हैं कि हम हाल ही में भाषा के प्रश्न पर इस विजातीय रुझान से चलायी जा रही बहसों की ओर इशारा कर रहे हैं। इस बहस में जब इन कतिपय कम्युनिस्टों के पास कोई जवाब नहीं बचा है तो अपने ताज़ा बयान में उन्होंने निम्न दावे किये हैं :

1. हमने (यानी आह्वान ने, जिन्हें कि ये कतिपय कम्युनिस्ट 'दिल्ली में बैठे विद्वान' क़रार दे रहे हैं!) उनके मुँह में कुछ बातें डाल दी हैं, जो कि वे कह ही नहीं रहे हैं। लेकिन इन्होंने यह बताने की जहमत नहीं उठायी है कि वे कौन-सी बातें हैं, जिन्हें हम उनके मुँह में डाल रहे हैं। एक बार फिर हम बता दें कि हमारे द्वारा इन कतिपय कम्युनिस्टों की क्या आलोचना पेश की गयी थी, ताकि सीधे इस पोस्ट को पढ़ रहे साथियों को मालूम रहे :

(क) इनके द्वारा कहा गया कि 1966 में भाषाई आधार पर हुए राज्यों के पुनर्गठन में पंजाब के साथ अन्याय हुआ और पंजाबीभाषी बहुल सिरसा भी हरियाणा में चला गया इसलिए उस पुराने बँटवारे को रद्द करके राज्यों का नया बँटवारा किया जाना चाहिए। इस पर हमने यह कहा कि वैसे तो अबोहर-फाजिल्का के भी 83 गाँव हिन्दीभाषी हैं, लेकिन आज जबकि पंजाब या हरियाणा की जनता के लिए यह कोई मुद्दा ही नहीं है, तो इसे मुद्दा बनाना ग़लत है। यह पंजाब और हरियाणा की आम मेहनतकश जनता के बीच ही फूट डाल देगा। **अब हम पूछते हैं : क्या आपने यह माँग नहीं उठायी है? हम यह बात तो आपके मुँह में नहीं डाल रहे हैं?**

(ख) इन्होंने अपने फ़ेसबुक पेज से लगातार ऐसी पोस्टें शेयर की हैं जिनमें यह माँग उठायी गयी है कि पंजाब में समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज ***केवल*** पंजाबी में होना चाहिए! वैसे तो ये कनाडा के प्रधानमंत्री ज़ायनवादी साम्राज्यवादी जस्टिन त्रूदो को इस बात के लिए बधाई दे रहे थे कि कनाडा में पंजाबीभाषियों के अल्पसंख्यक होने के बावजूद उसने संसद की कार्रवाई का पंजाबी में भी प्रसारण किया (बाद में, सम्भवतः इस पोस्ट की राजनीतिक अश्लीलता को देखकर इन्होंने ये पोस्ट हटा ली!) **लेकिन पंजाब के 27 लाख मेहनतकश प्रवासियों को अपनी मातृभाषाओं में पढ़ने और समस्त सरकारी कामकाज के अधिकार से ये वंचित रखना चाहते हैं।** क्योंकि यदि सारा काम सिर्फ़ पंजाबी में होगा तो फिर ज़ाहिर-सी बात है कि पंजाबी भाषा इस भारी ग़ैर-पंजाबीभाषी आबादी के लिए थोपी गयी भाषा बन जायेगी। **क्या आपने पंजाबी भाषा की "सरदारी" (वर्चस्व) को स्थापित करने की माँग उठाते हुए अपने फ़ेसबुक पेज से ऐसी पोस्ट नहीं शेयर की थी? क्या यह बात हम आपके मुँह में डाल रहे हैं?** चाहे वह पोस्ट मूलतः किसी ने भी लिखी हो, यदि आप अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से उसे शेयर कर रहे हैं, तो इसका अर्थ यही है कि आप उसका अनुमोदन (एण्डोर्स) कर रहे हैं। ऐसे में, आप अब अपनी कही बातों से भाग रहे हैं और हमीं पर भड़क रहे हैं कि हमने आपके मुँह में बातें डाल दीं, हालाँकि वे कौन-सी बातें हैं, यह नहीं बता रहे। इसे कहते हैं 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे'।

(ग) आपने एक अन्य वीडियो शेयर किया था जिसमें कि 1947 के पहले के पंजाब राज्य के नक़्शे को दिखाकर यह कहा गया था कि पहले 1947 में पंजाब के साथ अन्याय हुआ और फिर 1966 में भी अन्याय हुआ और आज पंजाब को कितनी कम ज़मीन पर गुज़ारा करना पड़ रहा है और पहले का महापंजाब कितना बड़ा था। **आपका मानना है कि वीडियो शेयर करने से आप पुराने महापंजाब की माँग नहीं उठा रहे हैं। इस पर हमने कहा था कि किसी वीडियो को शेयर करना उसकी अवस्थिति का समर्थन ही होता है और बाद में तो अपनी लिखित पत्रिका के एक लेख में आपने बाक़ायदा 1966 के पुनर्गठन को रद्द कर नया पुनर्गठन करने की माँग भी उठा दी है। इसलिए अपनी इस बात**

से आप भाग नहीं सकते। हमारा आपकी इस अवस्थिति पर कहना था कि 1947 में ***सिर्फ़*** पंजाब के साथ अन्याय की बात करना राष्ट्रवादी विचलन को दिखलाता है; 1947 में पूरे देश के साथ और विशेष तौर पर कई राज्यों के साथ अन्याय हुआ था। 1966 के राज्यों के भाषाई पुनर्गठन को रद्द कर नये पुनर्गठन की माँग करने को हम एक ग़ैर-मुद्दा मानते हैं जो कि मुद्दा बनाये जाने पर आम अवाम को ही बाँट देगा। इन दोनों ही आलोचनाओं पर कोई जवाब देने की बजाय आपने पतली गली से कट लेने और 'हमारे मुँह में अपनी बात डाल दी' की डफ़ली बजा दी है। **क्या वाक़ई हमने आपके मुँह में कोई बात डाली है?**

(घ) इन कतिपय कम्युनिस्टों के ही पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से एक बच्ची का वीडियो डाला गया था जिसमें कि वह पंजाबी को 'अपने गुरुओं, अपने धर्म, और अपने देश' की भाषा बता रही थी। इस वीडियो को भी बाद में हटा लिया गया। लेकिन यह तो पलायन की कार्रवाई थी। मूल बात यह है कि आपने वह वीडियो शेयर किया था और वह आपके पूरी पहुँच और पद्धति के अंग के तौर पर हुआ था। यह भाषा पर मार्क्सवादी नज़रिये का मख़ौल बनाना है। **क्या यह वीडियो आपने शेयर नहीं किया था? क्या यह बात हमने आपके मुँह में डाल दी?**

(ड) आपका दावा है कि हर बोली को भाषा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए और ऐसा किया जा सकता है और यह कि हिन्दी कई बोलियों को "मारकर" विकसित हुई है। हमने इस पूरे तर्क को सन्दर्भों समेत खण्डित किया और आपको बताया कि हर बोली भाषा के रूप में नहीं विकसित होती है। दूसरी बात, भाषाएँ महज़ राज्यसत्ता की ज़बर्दस्ती से भाषाएँ बन ही नहीं सकती हैं। वे ऐतिहासिक प्रक्रिया में कई बोलियों के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अमूर्तन के ज़रिये भाषाएँ बनती हैं। वास्तव में, 1947 में भारतीय पूँजीपति वर्ग के सत्ता में आने के काफ़ी पहले ही हिन्दी और उर्दू दोनों ही हिन्दुस्तानी की खड़ी बोली से विकसित हो चुकी थीं और करोड़ों लोगों की मातृभाषाएँ बन चुकी थीं। बाद में यदि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने उसे अपनी पूँजीवादी राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का कैरियर बनाया (जिसके निश्चित ऐतिहासिक कारण थे, जिन पर हम पिछली पोस्ट में चर्चा कर चुके हैं) तो इसमें हिन्दी भाषा की कोई ग़लती नहीं है। दूसरी बात, मुख्य रूप से खड़ी बोली से विकसित होने के बावजूद हिन्दी ने मागधी, कौरवी, ब्रज, वज्जिका, भोजपुरी, अवधी, कन्नौजी, अहीरी आदि सभी से लेक्सिकन, संरचना, व व्याकरणिक तौर पर चीज़ें ली हैं। इसी को हम कई बोलियों का ऐतिहासिक व वैज्ञानिक सामान्यीकरण व अमूर्तन कह रहे हैं। कोई भी भाषा बाहर से आकर बोलियों को नहीं दबाती है। वह इन्हीं बोलियों के अमूर्तन, वैज्ञानिक मानकीकरण, मानक लेक्सिकन के निर्माण (जो कि बाद में भी काफ़ी लचीला रहता है) और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम से सीखकर विकसित होती है। **भाषा के बारे में इन कतिपय कम्युनिस्टों का नज़रिया ही बेहद बचकाना, मूर्खतापूर्ण, अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अस्मितावादी और लोकरंजकतावादी है। हमारी पहले की पोस्टों में इस बाबत रखे गये किसी भी तर्क या तथ्य का इन कतिपय कम्युनिस्टों ने कोई जवाब नहीं दिया है और इन्हें "विद्वानों की बातें" बताकर ख़ारिज कर दिया है। आम तौर पर, विज्ञान से रिक्त लोगों में एक प्रकार का प्रतिक्रान्तिकारी और ग़ैर-सर्वहारा 'एण्टी-इण्टलेक्चुअलिज़्म' पैदा हो जाता है। वे पहले तर्कसम्मत बात को विद्वानों की बात बोल देते हैं और फिर घबराकर मूर्खता और अज्ञान का जश्न मनाने लग जाते हैं।**

(च) जो मूर्खतापूर्ण बात हमारे कतिपय कम्युनिस्ट भाषा और बोलियों के रिश्ते पर करते हैं, वह बात यह केवल हिन्दी भाषा पर ही लागू करते हैं। **हमने इन्हीं के तर्क को पंजाबी भाषा और उसकी तमाम बोलियों पर लागू करके इनसे पूछा था कि क्या मानकीकृत पंजाबी भाषा भी इन बोलियों की "हत्या" करके पैदा हुई है? इस सवाल पर इन्हें सनाका मार गया है! इस पर ये कोई जवाब देने से भाग रहे हैं और तरह-तरह की चीख़ें मार रहे हैं जैसे कि "हमारे मुँह में बातें डाल दीं", "ये तो विद्वानों की बातें हैं", "ये तो दिल्लीवाले हैं", "ये तो हिन्दीवाले हैं" वग़ैरह जैसी अहमकाना बातें।** हम कहेंगे कि 'भागिए मत! जुमलेबाज़ी मत करिए। ठोस सवालों का ठोस जवाब दीजिए।' लेकिन पलायन का एक ट्रेडमार्क तरीक़ा इन लोगों ने अपनाया है : 'सवालों से भागो और सवालों को ही दोषी ठहराओ!'

(छ) बागड़ी बोली को इन्होंने पंजाबी की बोली क़रार दिया था और इस आधार पर बागड़ी बोलने वालों के क्षेत्र और आबादी को मिलाकर हरियाणा के 30 प्रतिशत लोगों को पंजाबीभाषी घोषित कर दिया था! हमने अपनी पिछली दो पोस्टों में तथ्यों, तर्कों और वैज्ञानिक शोधकार्यों के सन्दर्भ समेत दिखाया कि बागड़ी बोली हिन्दी की उपभाषा हरियाणवी, राजस्थानी (जो कि एक भिन्न भाषा है) और पंजाबी के बीच की सेतु बोली है, **लेकिन इसमें भी बागड़ी की सापेक्षिक निकटता हरियाणवी तथा राजस्थानी के साथ ज़्यादा बनती है, पंजाबी के साथ नहीं।** यह आधिकारिक तौर पर राजस्थानी की उपभाषा/बोली मानी भी जाती है। **लेकिन इन महानुभावों की कार्यदिशा के अनुसार तो बागड़ी को भी इन्हें पंजाबी की बोली नहीं बोलना चाहिए और उसे स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहिए। कहीं ये बागड़ी बोली का पंजाबी भाषा द्वारा दमन और उसकी हत्या का प्रयास तो नहीं है!?** इन महानुभावों के हिसाब से तो ऐसा ही नतीजा निकालना चाहिए! ग़लत कार्यदिशा के पक्ष में कुतर्क

गढ़ते जाने के साथ यही समस्या होती है : ऐसे लोग ख़ुद ही भूल जाते हैं कि उन्होंने पहले क्या कहा था और और उनकी कार्यदिशा का क्या अर्थ निकलता है!

(ज) हमारे कतिपय कम्युनिस्टों का मानना है कि पंजाबीभाषी लोग हरियाणा में और देश में दमित समुदाय हैं, जो डर के मारे अपनी मातृभाषा हिन्दी बताते हैं। हमने स्पष्ट किया था कि यह बात ही तथ्यतः ग़लत है। उल्टे हरियाणा की अर्थव्यवस्था से लेकर राजनीति में पंजाबीभाषियों की अच्छी साझेदारी रही है। स्पष्ट है कि मेहनतकश आबादी तो हर जगह ही दमित होती है। लेकिन वह दूसरी बात है। इन कतिपय कम्युनिस्टों ने अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से एक ऐसा वीडियो भी शेयर किया था जिसमें दिल्ली में एक सरदार ऑटो चालक की पुलिस द्वारा पिटाई की जा रही थी और इन कतिपय कम्युनिस्टों का यह कहना था कि उसे इसलिए पीटा जा रहा था क्योंकि वह सिख था। इस पर पंजाब के ही कई सूझबूझ बाले साथियों और कॉमरेडों और साथ ही अन्य तमाम लोगों ने आपत्ति दर्ज करायी थी कि इसे धर्म का रंग देना ग़लत है और यह तो हर धर्म के ही ऑटोचालकों के साथ दिल्ली में पुलिस वाले आये दिन करते हैं। इस पर इन्होंने एक बेहद कमज़ोर सफ़ाई भी दी थी, जो कि किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए कन्विंसिंग नहीं थी।

यह बात भी हमने अपनी शुरुआती एक पोस्ट में कही थी और बाद में भी कही थी कि पंजाबी राष्ट्रीयता भारत में या हरियाणा में कोई दमित राष्ट्रीयता नहीं है। इस बारे में हमने दमित राष्ट्रीयता के अर्थ को भी स्पष्ट किया था और साथ ही पंजाबी राष्ट्रीयता पर उसके लागू न होने के तथ्य और तर्क भी पेश किये थे। लेकिन इन पर इन कतिपय कम्युनिस्टों ने कोई जवाब देने की बजाय वही धुन्ध फैलाने की रणनीति अपनायी है, यानी जुमले उछालो ("ये दिल्ली के विद्वानों की बातें हैं", "ये हिन्दीवालों की बातें हैं", वग़ैरह) और जवाब दिये बिना भागो।

2. अपनी नयी पोस्ट में इन कतिपय कम्युनिस्टों ने हमारे ऊपर झूठे आरोपों की (जिनका खण्डन हम पहले भी कर चुके हैं और अगले पैरा में भी कर रहे हैं) बारिश कर भारत के सभी बोलियों के लोगों और (हिन्दी के अलावा) अन्य सभी भाषा के लोगों का आह्वान किया है कि वे उनके एक मातृभाषा सम्मेलन में शामिल होकर हम "दिल्ली के हिन्दीभाषी विद्वानों" को ग़लत सिद्ध कर दें! यह पूरा तर्क लोकरंजकतावाद से ही निकलता है और इससे इनका भाषाई अस्मितावाद भी एकदम निपट नंगा हो जाता है। पहली बात तो यह कि हम दिल्ली के हैं और आप लुधियाना के, इससे हमारे और आपके तर्कों (हालाँकि आपके पास ऐसा कुछ है नहीं जिसे तर्क कहा जा सके) की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ता। अगर हमारा तर्क ग़लत है, तो हम इस तर्क के समर्थन में सम्मेलन करके 10 लाख लोग भी जुटा लें (जैसा कि लोकरंजकतावादी तर्कों पर तात्कालिक तौर पर अक्सर हो जाया करता है) तो भी हमारा तर्क इससे सही नहीं हो जाता। आप भी यदि सम्मेलन में लाखों लोगों को एक ग़लत तर्क पर इकट्ठा कर लें, तो इससे आपका तर्क सही नहीं हो जाता, बल्कि उस लोकरंजकतावादी तर्क के ख़तरे ही और बढ़ जाते हैं। इस तर्क से तो आज संघी लोगों का तर्क सबसे सही साबित हो जायेगा! जैसाकि एक विद्वान ने कहा था, "अगर दस लाख लोग भी एक ग़लत बात कहें, तो वह ग़लत बात ही होती है।" तर्क ख़त्म हो जाने पर ही लोग भीड़ जुटाने और उसके लिए अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद की बैसाखी पकड़ने का काम करते हैं। ये कतिपय कम्युनिस्ट भी ऐसा ही कर रहे हैं।

कुछ परिधिगत प्रश्न भी थे लेकिन उनके जवाबों के लिए आप हमारी पिछली तीन पोस्टों को देख सकते हैं।

अब आते हैं इस बात पर कि हमने क्या नहीं कहा था जो इन कतिपय कम्युनिस्टों ने बार-बार हम पर थोपने की कोशिश की है और अब भी कर रहे हैं, ताकि भ्रम का धुँआ फैलाकर अपनी ग़लत कार्यदिशा पर समर्थन ले सकें। हमने निम्न बातें बार-बार स्पष्ट की हैं :

1. **हम किसी भी क़ौम पर किसी भी भाषा को थोपे जाने के ख़िलाफ़ हैं।** हमारा मानना है कि हरेक नागरिक को अपनी मातृभाषा में पढ़ने-लिखने और सभी कामकाज का हक़ होना चाहिए। हम सभी भाषाओं को बराबर मानते हैं और यही माँग भी रखते हैं कि उन्हें हर रूप में समान दर्जा मिलना चाहिए। हम राष्ट्रभाषा और राजकीय भाषा की अवधारणा के ख़िलाफ़ हैं और एक साझा राज्य के तहत रहने वाली समस्त आबादी की हरेक भाषा को बराबरी का दर्जा मिलने की हिमायत करते हैं और आज से नहीं बल्कि इस बहस के शुरू होने से बहुत पहले से कर रहे हैं। इसके दस्तावेज़ी और सोशल मीडिया सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध हैं। **इसलिए हम पर हिन्दीवादी होने या हिन्दी को थोपने वाले "विद्वान" का जो आरोप ये कतिपय कम्युनिस्ट लगा रहे हैं, वह वास्तव में पलायन की प्रक्रिया में इनके द्वारा फैलाया जा रहा धुँआ है।**

2. हम मानते हैं कि किसी भाषा को कहीं बाध्यतापूर्ण नहीं बनाया जाना चाहिए बल्कि हर राज्य में सभी नागरिकों के समक्ष अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने व समस्त कामकाज का विकल्प होना चाहिए। हमने यह भी पहले ही कहा है कि यही कम्युनिस्टों के लिए सही राजनीतिक माँग है और यह न तो अव्यावहारिक है और न ही असम्भव है। यह सोवियत संघ में काफ़ी हद तक हो गया था और आज तो यूरोपीय संघ के कुछ बहुभाषी पूँजीवादी राज्यों में भी यह विकल्प उपलब्ध है। ऐसे में हम हिन्दी को कहीं भी किसी के लिए भी बाध्यताकारी बनाने के ख़िलाफ़ हैं और हम पंजाब में केवल

पंजाबी भाषा में ही शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज की माँग और पंजाबी की "सरदारी" को स्थापित करने के भी उतना ही ख़िलाफ़ हैं।

3. हम यह नहीं मानते हैं कि किसी मानकीकृत भाषा के विकास के साथ उसकी बोलियों और उपभाषाओं को ख़त्म हो जाना चाहिए या वे ख़त्म हो जाती हैं। वास्तव में, ऐतिहासिक तौर पर बोलियाँ हमेशा ही भाषा के साथ अस्तित्वमान रही हैं। घरों के भीतर और आम अनौपचारिक संवाद में उनका इस्तेमाल होता रहा है और फिर भी वैज्ञानिक शोध, चिन्तन, शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु भाषा आवश्यक होती है क्योंकि बिना लेक्सिकन के मानकीकरण, व्याकरणिक संरचना तथा कर्ता-कारक-क्रिया क्रम के मानकीकरण के, वैज्ञानिक शोध, चिन्तन, शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु किसी बोली का प्रयोग हो ही नहीं सकता है। जब किसी बोली का ऐसा मानकीकरण और वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अमूर्तन होता है, साथ ही, इस प्रक्रिया में और इसके लिए ही वह अन्य बोलियों से भी लेक्सिकन, व्याकरणिक ढाँचे और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम के मामले में ग्रहण भी करती है, तब तो वह भाषा का ही स्वरूप ले लेती है। इसके बारे में हमने पिछली पोस्ट में विस्तार से लिखा है, जिज्ञासु पाठक जो कि इस अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद में बहे नहीं हैं, वे उन्हें देख सकते हैं।

मातृभाषा पर सम्मेलन करना, उसके विकास की माँग उठाना, उसमें पढ़ने और सभी कामकाज की माँग उठाना बिल्कुल सही है, बशर्ते कि इसके पीछे उपरोक्त ग़लत कार्यदिशा, यानी भाषाई अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद की और बिग नेशन शॉविनिज़्म और राष्ट्रवादी विचलन की सोच न हो। हर नागरिक के अपने मातृभाषा में लिखने-पढ़ने व समस्त सरकारी कामकाज के लिए लड़ना कम्युनिस्टों की क्लासिक माँग रही है। लेकिन जब इसे राज्यसत्ता द्वारा भाषा को थोपे जाने का विरोध बनाने की बजाय आम तौर पर किसी या किन्हीं ***भाषाओं का विरोध*** बना दिया जाता है, जब इसे अपनी भाषा की "सरदारी" स्थापित करने की राजनीति बना दिया जाता है, जब इसे किसी भी विशिष्ट भाषा या भाषाओं के अस्तित्व को ही नकारने का माध्यम बना दिया जाता है (जैसे कि बोलियों और भाषा के रिश्ते के प्रश्न पर हमारे कतिपय कम्युनिस्ट कर रहे हैं) तब यह एक प्रतिक्रियावादी लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद का रूप ले लेती है। इस मसले पर सही राजनीति और अस्मितावादी लोकरंजक राजनीति के बीच की विभाजक रेखा इतनी भी बारीक नहीं है, लेकिन अहं, पूर्वाग्रह और अपने प्रतिक्रियावादी ग़ैर-सर्वहारा एण्टी-इण्टेलेक्चुअलिज़्म में हमारे कतिपय कम्युनिस्ट इस रेखा को देख नहीं पा रहे हैं।

अन्त में, हम सभी सोचने-समझने वाले कॉमरेडों से फिर से अपील करेंगे : **साथियो, इस प्रकार के भाषाई अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद में बहना आत्मघाती होगा। दूरगामी तौर पर यह आन्दोलन के लिए भी ख़तरनाक होगा। यह जनता में बँटवारा पैदा करेगा और इसका लाभ पूँजीवादी दल ही उठायेंगे।** इस प्रकार के अस्मितावाद की हिमायत विभिन्न भाषाओं के (हिन्दी समेत) बौद्धिक जगत में उत्तर-आधुनिकतावादी करते हैं। मिसाल के तौर पर, भोजपुरी के बौद्धिक जगत में कुछ बेहद पतित और दलाल क़िस्म के उत्तरआधुनिक बुद्धिजीवी भाषाई अस्मितावाद का झण्डा बुलन्द किये हुए हैं। उनका भी मानना है कि हर बोली को ही भाषा बनाया जाना चाहिए! यह एक प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी और अनैतिहासिक सोच है। उत्तरआधुनिक विमर्श में भी बोलियों और वर्नैक्युलर्स तथा दूसरी ओर भाषा के बीच एक कृत्रिम विरोध खड़ा करने का प्रयास किया जाता रहा है। किसी एक भाषा को *आधुनिक राज्यसत्ता* के दमन का उपकरण बताया जाता है और बोलियों, जार्गन, वर्नैक्युलर, उपभाषाओं को इस दमन के प्रतिरोध की 'साइट' या 'लोकेशन'! **यह एक टिपिकल उत्तरआधुनिकतावादी तर्क है।** जिन्होंने भी मार्क्सवाद द्वारा की गयी उत्तरआधुनिकतावाद की आलोचना को पढ़ा है, वे यह बात अच्छी तरह से जानते हैं। किसी भी राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को थोपे जाने का विरोध करना एक बात है। लेकिन इसे किसी भाषा के विरोध में तब्दील कर देना मूलतः भाषाई अस्मितावाद का तर्क है जिसकी जड़ें उत्तरआधुनिकतावाद में हैं। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट न सिर्फ़ भारत में बल्कि पूरी दुनिया में इसकी मुख़ालफ़त करते रहे हैं और सही ही करते रहे हैं। हमारे कतिपय कम्युनिस्टों में चूंकि एक तर्कणा-विरोधी ग़ैर-सर्वहारा एण्टी-इण्टेलेक्चुअलिज़्म पैठा हुआ है और वे "विद्वत्ता-विरोध" के नाम पर किसी तर्क, किसी वैज्ञानिक बात, किसी तथ्य को सुनना नहीं चाहते, इसलिए वह इन बातों से सम्भवतः वाक़िफ़ नहीं हैं। इसीलिए वह अनजाने ही एक ख़तरनाक भंवर में फँसते जा रहे हैं। **ऐसे में, हम सभी सोचने वाले कॉमरेडों से यही अपील करते हैं कि वे इस भयंकर आत्मघाती कार्यदिशा से बचें। ऐसा अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भस्मासुर के समान होता है। यह बाद में कार्यदिशा को क्रमिक प्रक्रिया में, चोर-दरवाज़े से दुरुस्त करने का प्रयास करने का (जैसा कि इन कतिपय कम्युनिस्टों की "हमारे मुँह में बातें डाल दी गयीं" जैसी बातें करने और यह न बताने कि कौन-सी बातें डाल दी गयीं, से पता चलता है) मौक़ा नहीं देता है। इस ग़लत सोच की अपनी गति होती है और वह किसी के पूर्ण नियंत्रण में नहीं रहती है।**

हम समझते हैं कि हरेक व्यक्ति ऐसी ख़तरनाक कार्यदिशा के प्रभाव में नहीं आ जायेगा। हम यह भी उम्मीद करते हैं कि जो अभी प्रतिक्रिया और पूर्वाग्रह के कारण इस ग़लत कार्यदिशा के प्रभाव में हैं, वे भी ठण्डे दिमाग़ से सोचेंगे और इस कार्यदिशा के आसन्न विनाशकारी नतीजों को हक़ीक़त में तब्दील होने से रोकेंगे। ●

हमारी बातों के मुख्य बिन्दु

जब बहस में तर्क समाप्त हो जायें और किसी तार्किक बात का जवाब न रह जाये तो तर्क में हार चुके और बहस से भागने वाले पक्ष के पास एक ही विकल्प होता है – विरोधी पक्ष के बारे में झूठ बोलना, कुत्सा-प्रचार करना और उसके तर्कों को विकृत करना। कुछ ऐसा ही भाषा के प्रश्न पर जारी इस बहस में भी किया जा रहा है। बहस से देर से परिचित होने वाले या हमारी सारी पोस्टों को पूरा न पढ़ सकने वाले पाठकों के लिए हम अपने मुख्य तर्कों को फिर से संक्षेप में, बिन्दुवार रख दे रहे हैं।

● **सम्पादक मण्डल, 4 नवम्बर 2019**

कल (28 अक्टूबर) आह्वान के पेज पर राज्यों के भाषाई पुनर्गठन को दोबारा करने की माँग, हरियाणा में भाषाई समुदायों के अनुपात और वहाँ आम तौर पर भाषा के प्रश्न पर एक पोस्ट डाली गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग पोस्ट को पूरा पढ़े बग़ैर अपनी भावनाओं को आहत कर बैठे हैं और यह आरोप लगा बैठे हैं कि इस पोस्ट में अमित शाह की सोच झलक रही है ('एक देश, एक भाषा')। ऐसे आधारहीन आरोप पर तो सफ़ाई देना भी बेकार है, क्योंकि हम अमित शाह के हालिया बयान के आते ही सबसे पहले निन्दा करने वाले राजनीतिक समूहों में से एक थे। कुछ अन्य लोग भी हैं जो इसे पंजाबी और हिन्दी के वर्चस्व के बीच संघर्ष के रूप में व्याख्यायित कर रहे हैं। उनसे आग्रह है कि एक बार पूरी पोस्ट को दोबारा संजीदगी से आद्योपान्त पढ़ें और उसके बाद टिप्पणी करें। **पूरी पोस्ट पढ़ने का धैर्य न रखने वाले साथियों के लिए हम इस पोस्ट के मुख्य बिन्दु संक्षेप में यहाँ रख दे रहे हैं, ताकि यह स्पष्ट रहे कि हम क्या कह रहे हैं और क्या नहीं।**

1) हर व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी राज्य में हो, अपनी मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण व सभी प्रकार के सरकारी कामकाज का अधिकार होना चाहिए। जहाँ पर भी ऐसा नहीं हो रहा है, या किसी भी रूप में भाषा के आधार पर भेदभाव हो रहा है, वहाँ उसके विरुद्ध संघर्ष करना कम्युनिस्टों का कर्तव्य है।

2) हम यह ग़लत मानते हैं कि किसी देश या किसी प्रान्त में भी किसी भाषा के वर्चस्व को स्थापित किया जाये। एक भाषा के वर्चस्व का अर्थ ही है अन्य भाषाओं का दमन। यानी **किसी राज्य में सारा शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज सिर्फ़ बहुसंख्यक आबादी की भाषा में करने की माँग उठाना ही ग़ैर-कम्युनिस्ट है और एक विशिष्ट प्रकार के राष्ट्रवादी विचलन को प्रदर्शित करता है।**

3) लेकिन **इस प्रश्न को एक पूँजीवादी देश के भीतर प्रान्तों की प्रशासनिक सीमाओं से जोड़कर आज यह माँग उठाना कि भाषाई आधार पर राज्यों का फिर से पुनर्गठन किया जाये, अनैतिहासिक और अप्रासंगिक है, विशेष तौर पर तब जबकि यह आम मेहनतकश जनता की कोई माँग ही नहीं है।** ऐसा नहीं कि आम जनता हमेशा स्वतःस्फूर्त रूप से सही माँग ही उठाती है, कई बार वह प्रतिक्रियावादी माँग भी उठा सकती है, जिस सूरत में क्रान्तिकारी अगुवा तत्वों का कार्यभार होता है धैर्य के साथ जनता का राजनीतिक शिक्षण करना। लेकिन इस मामले में तो यह स्वतःस्फूर्त माँग भी नहीं है। ऐसे में यह माँग उठाना आम मेहनतकश जनता को आपस में एक ग़ैर-मुद्दे पर लड़ायेगा और पूँजीपति वर्ग को अवसर देगा कि वह इस बँटवारे को और हवा दे।

4) बागड़ी बोली की सापेक्षिक रूप से अधिक निकटता पंजाबी नहीं बल्कि हरियाणवी व राजस्थानी से बनती है, हालाँकि यह तीनों के बीच की सेतु बोली भी कही जाती है। इस बारे में हमारे नोट (28 अक्टूबर) में सन्दर्भ समेत ब्यौरे दिये गये हैं।

5) हरियाणा में 30 प्रतिशत आबादी की भाषा किसी भी आँकड़े के अनुसार पंजाबी नहीं है। बिना किसी स्रोत के, कुछ लोगों के इम्प्रेशन्स के आधार पर ऐसा आँकड़ा पेश करना ग़लत है। सरकारी आँकड़ों की सटीकता में कुछ कमी-बेशी हो सकती है, मगर 7 से 10 प्रतिशत और 30 प्रतिशत का अन्तर सम्भव नहीं है। यह मनोगतवाद है, जो कि इस मामले में बिग नेशन शॉविनिज़्म से प्रभावित है।

6) हर बोली को भाषा के रूप में विकसित नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, विभिन्न भाषाएँ कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तीकरण से जन्म लेती हैं और बाद में वे बोलियाँ उन भाषाओं के साथ-साथ अस्तित्वमान रह सकती हैं। लेकिन यह तर्क ही अनैतिहासिक और प्रतिक्रियावादी है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में जो बोलियाँ भाषा के रूप में विकसित नहीं हो सकीं, उन सभी को आज कम्युनिस्ट बैठकर भाषा के रूप में विकसित करें। दूसरी

बात, जिन कतिपय कॉमरेडों पर यह टिप्पणी की गयी है, वे अपने इस ग़लत तर्क को भी केवल हिन्दी भाषा की तमाम बोलियों पर लागू कर रहे हैं, लेकिन पंजाबी भाषा की तमाम बोलियों पर नहीं। ईमानदारी का तकाज़ा होता कि वे पंजाबी भाषा की सभी बोलियों को भी स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करने की बात उठाते और इस काम में दिलोजान से लग जाते। तब उन्हें शायद ख़ुद ही समझ आ जाता कि उनका यह तर्क कितना बेतुका है।

7) पंजाबीभाषी समुदाय हरियाणा में कोई दमित समुदाय/राष्ट्रीयता नहीं है। इसके बारे में, ठोस तर्क व तथ्य नोट में मुहैया कराये गये हैं।

8) ये कतिपय कॉमरेड मातृभाषा के प्रति अपना प्रेम केवल पंजाबी भाषा के सन्दर्भ में ही रखते प्रतीत होते हैं, क्योंकि **यदि आम तौर पर सभी नागरिकों को मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी काम-काज की हिमायत की जा रही होती, तो यह माँग ही नहीं उठायी जा सकती कि पंजाब में केवल पंजाबी भाषा में ही हर कामकाज होना चाहिए।** पंजाब में आज प्रवासी मज़दूरों की तादाद क़रीब 27 लाख पहुँच रही है; साथ ही अबोहर-फाजिल्का और चण्डीगढ़ आदि में हिन्दीभाषी या तो विचारणीय अल्पसंख्या हैं या बहुसंख्या। उनके लिए हिन्दी भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कामकाज के विकल्प को मौजूद रखने की माँग क्यों नहीं की जा रही है? यह वास्तव में भाषाई वर्चस्ववाद के सिद्धान्त की ओर ले जाता है।

9) अन्त में, नोट में कतिपय कॉमरेडों की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी की गयी है जो पहले महापंजाब (1947 के पहले वाला, या 1966 के पहले वाला) के नक़्शे पर आँसू बहा रही थी, फिर 1966 के राज्यों के पुनर्गठन को ग़लत ठहरा रही थी और अब नये सिरे से राज्यों के पुनर्गठन की बात कर रही है, जो कि न तो आज जनता की कोई माँग है और न ही इस पर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन है। ऐसे में, यह अपवादस्वरूप स्थिति में सम्भव है कि अस्मितावादी तरीक़े से इस माँग को हवा दे दी जाये और फिर पूँजीवादी चुनावी दल इसे ले उड़ें और जनता के बीच बँटवारा पैदा कर दें। क्योंकि **यदि वर्गीय अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते, तो उन्हें ग़लत अभिव्यक्ति देना या उन्हें भाषाई, जातिगत, नस्ली या राष्ट्रीय स्वरूप में मिसआर्टिक्युलेट करने की एक सम्भावना हमेशा मौजूद ही रहती है, चाहे क्षीण रूप में ही सही। लेकिन यह कार्य यदि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी करें, तो निहायत अफ़सोसनाक बात होती है।**

●

हरियाणा में पंजाबी भाषा के प्रश्न पर...

(पेज 59 से जारी)

50 पौधी (पंजाबी की एक बोली) बोलने वाले गाँवों को लेकर चण्डीगढ़ बनाया गया था। लेकिन **इतिहास में पीछे नहीं जाया जा सकता।** जो ऐसे तर्क की बात करते हैं उन्हें इस बात का भी समर्थन करना चाहिए कि ऐतिहासिक तौर पर फ़िलिस्तीन-इज़रायल से विस्थापित हुए यहूदियों को वहाँ बसाया जाना चाहिए और उनकी ऐतिहासिक भाषा यहूदी को ऐसे राज्य की राजकीय भाषा बनाया जाना चाहिए। इतिहास में आप कहाँ और कितने पीछे जायेंगे? **लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात जिस पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आज चण्डीगढ़ के व्यापक जनसमुदायों की यह माँग ही नहीं है। तो फिर ऐसी बात केवल राष्ट्रवादी विचलन के कारण ही किसी कम्युनिस्ट के दिमाग़ में आ सकती है।**

दूसरा, क्या पंजाबी भाषा के आधार पर एक-एक व्यक्ति को चुन-चुनकर पंजाब में शामिल किया जाना चाहिए? या क्या पंजाब के एक-एक हिन्दीभाषी को चुनकर हरियाणा या राजस्थान में शामिल किया जाना चाहिए? **क्या यह आम जनमानस की माँग है या फिर आपके ही दिमाग़ के राष्ट्रवादी व भाषाई कट्टरतावादी विचलन की पैदावार है? वैसे तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी कोई विभाजन यदि होता है तो कुछ आबादी अपनी मर्ज़ी और मजबूरी के चलते भी इधर-उधर रह जाती है लेकिन भारत में ऐसे लोगों को ऐसा कौन -सा असुरक्षा-बोध खाये जा रहा है कि एक और विडम्बना रचने की पूर्वपीठिका निर्माण की तैयारी में आप लगे हैं?** इन लोगों के तर्क पर ही चलें तो एक सवाल बनता है कि ऐसे लोगों को विचारणीय पंजाबीभाषी आबादी वाला सिरसा तो दिख गया लेकिन अबोहर-फाजिल्का और उस इलाक़े के 83 हिन्दी भाषी गाँव क्यों नहीं दिखे? क्या राष्ट्रवादी विचलन का चश्मा यह देखने की इजाज़त नहीं देता? निश्चित तौर पर भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज एक प्रतिक्रियावादी माँग है, विशेष तौर पर इसलिए कि यह आम मेहनतकश जनता की माँग नहीं है। ऐसा करना शासक वर्ग के काम को आसान बनाना है तथा स्वयं ही जनता के बीच बँटवारे के बीज बोने के समान है। आज न केवल हरियाणा बल्कि पंजाब के भी लोगों के बीच भाषाई आधार पर पुनर्विभाजन जैसी कोई माँग नहीं है। ऐसे में बिग नेशन शॉविनिज़्म और काल्पनिक नॉस्टैल्जिया की ढफ़ली उठाकर पुनर्विभाजन का राग अलापना कहीं से भी जायज़ नहीं है।

इस प्रकार के विचारों की एक पूरी श्रृंखला है जिसके एक छोटे-से हिस्से पर ही हम यहाँ टिप्पणी कर पाये हैं। आगे इस पूरी श्रृंखला के पीछे मौजूद पहुँच और पद्धति पर हम विस्तार से अपनी बात रखेंगे, जिसमें कि भाषा का पूरा प्रश्न और मार्क्सवादी-लेनिनवादी पहुँच के सवाल पर चर्चा करेंगे।

●

5 नवम्बर 2019 को 'आह्वान' के फ़ेसबुक पेज पर डाली गयी टिप्पणी

● सम्पादक मण्डल

आह्वान के फ़ेसबुक पेज पर भाषा के सवाल पर बहस में अपना पक्ष रखते हुए हमने शुरू से दूसरे पक्ष के अन्धराष्ट्रवादी नॉस्टैल्जिया, सस्ते लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद को अपनी आलोचना का निशाना बनाया है। हमारे द्वारा तमाम उदाहरण दिये जाने के बावजूद दूसरा पक्ष बार-बार इस बात को गोल-मोल या सीधे इन्कार करने की कोशिश करता रहा कि वह तो 'महापंजाब' जैसे किसी नॉस्टैल्जिया की बात करता ही नहीं। मगर हमारी आलोचनाओं का कोई जवाब न दे पाने की हालत में अपनी पोज़ीशन को किसी-न-किसी तरह से सही ठहराने के चक्कर में उन्हें जो कसरतें करनी पड़ रही हैं, उसके चलते भाषाई उत्पीड़न और भाषाई ग़ैर-बराबरी के झोले में छिपे उनके वैचारिक भटकाव लुढ़क-लुढ़ककर झोले से बाहर आ जा रहे हैं।

हमने अपनी कई पोस्ट में "महापंजाब" की याद में टसुए बहाने की प्रवृत्ति या 1966 के राज्यों के भाषावार पुनर्गठन को फिर से किये जाने की माँग की सख़्त आलोचना रखी थी जिस पर दूसरे पक्ष का कहना होता था कि हम ऐसी कोई बात कह ही नहीं रहे हैं। महापंजाब माँग कौन रहा है? हम तो बस दूसरों के वीडियो अपनी आधिकारिक पत्रिका के पेज से शेयर कर रहे हैं और शेयर करने का मतलब वीडियो में प्रस्तुत विचारों को मानना तो नहीं होता?! (इस बात पर वे चुप मार जाते थे कि किसी तथ्य की प्रस्तुति मूल्यविहीन नहीं होती और बिना किसी टिप्पणी के वीडियो को शेयर करने का मतलब उसमें प्रस्तुत विचारों का समर्थन ही होता है।)

मगर अभी उनकी तरफ़ से लिखी गयी एक पोस्ट में आख़िर दिल की बात ज़ुबाँ पर आ ही गयी! पोस्ट में कहा गया है कि अगर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी और उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम एक हो सकते हैं और कोरिया के एकीकरण की प्रबल सम्भावना है, तो भला पंजाब (हिन्दुस्तानी पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब) क्यों नहीं एक हो सकता? और फिर ऐसे "बौने बुद्धिजीवियों" पर क्षोभ व्यक्त किया गया है जो ऐसी एकता की चाहत नहीं रखते। पहली बात, हर कम्युनिस्ट पंजाब ही क्यों, पूरे उपमहाद्वीप के फिर से एक होने की ख़्वाहिश रहता है। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में तमाम राष्ट्रीयताओं का एक साझा समाजवादी संघ बने यह हर सच्चे कम्युनिस्ट की दिली इच्छा होगी। लेकिन कम्युनिस्ट, अगर वे वाक़ई कम्युनिस्ट हैं तो, यह भी जानते हैं कि तीनों मुल्क़ों में समाजवादी क्रान्ति के कामयाब होने के बाद ही ऐसी एकता मुमकिन है। उसके पहले ऐसे ख़याली पुलाव पकाने और उसकी याद में आँसू बहाने की हरकतों पर कोई भी कम्युनिस्ट हँसेगा ही। और साथ ही, चिन्तित भी होगा, क्योंकि इस तरह के विचार दरअसल ऐसी एकता की सम्भावना को सच बनाने की राह पर चलने वाले आन्दोलन को भटकाव और बिखराव के रास्ते पर ही ले जायेंगे।

जर्मनी का उदाहरण देने वाले यह भूल गये कि उसका एकीकरण दोनों देशों की जनता की फिर से मिल जाने की इच्छा का नतीजा नहीं था, बल्कि नकली समाजवाद के मॉडल के ढहने और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा था। बर्लिन की दीवार का गिरना पूरी दुनिया में भूमण्डलीकरण की नीतियों के विजय अभियान का एक प्रतीक यूँ ही नहीं बन गया था। वियतनाम का एकीकरण क्रान्ति की जीत का नतीजा था और अगर कोरिया का आज फिर से एकीकरण होता है (जिसकी सम्भावना निकट भविष्य में कम ही है), तो यह भी एक बार फिर नकली समाजवाद की पराजय और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा होगा।

लगातार पंजाब के साथ होने वाले अन्याय और पंजाब के एक होने की बातें करने वाले जब इस बात का कोई तार्किक जवाब नहीं दे पाये कि 1947 में जब पूरे देश के साथ भयंकर अन्याय हुआ तो केवल पंजाब की बात उठाने का क्या मतलब है, तो अब लीपापोती के प्रयास में वे पंजाबी क़ौम के साथ बंगाली क़ौम का भी नाम लेने लगे हैं। मगर इतना ही क्यों, क्या 1947 में कश्मीर के टुकड़े नहीं हुए? क्या सीमा के दोनों तरफ़ उजड़ने वाली करोड़ों की आबादी के साथ अन्याय नहीं हुआ? पूरे उपमहाद्वीप की जनता क्या उपनिवेशवादियों के उस अन्याय की क़ीमत आज तक नहीं चुका रही है? मगर इन कॉमरेडों को केवल पंजाब

के साथ होने वाले अन्याय को 'अनडू' (undo) करने की क्यों पड़ी हुई है?

एक और बात भी है! जर्मनी का एकीकरण दो मुल्क़ों का एकीकरण था – ऐसा नहीं था कि वहाँ सैक्सनी और लोअर सैक्सनी प्रान्तों के लोग अलग से अपने बँटवारे पर रुदाली गा रहे थे और महासैक्सनी बनाने के लिए आहें भर रहे थे।

और अगर तमाम आलोचनाओं के बावजूद उन्हें लगता है कि अपने-अपने देशों के भीतर समाजवादी क्रान्ति के लिए काम करने के बजाय भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश में "टुकड़े-टुकड़े हो गयी क़ौमों" को सबसे पहले आपस में मिल जाने की कोशिशें करनी चाहिए तो उन्हें शर्माने के बजाय इसी माँग का झण्डा थामकर आगे बढ़ना चाहिए।

इन्होंने भाषा के आधार पर 'पंजाब पुनर्गठन एक्ट' के तहत 1966 में हुए पंजाब, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश के गठन को अन्यायपूर्ण बताया और बाक़ायदा यह माँग उठा दी कि राज्यों का पुनर्गठन फिर से किया जाना चाहिए (ज़ाहिर है कि वे केवल पंजाब को उसका "हक़" दिलाने के मक़सद से ऐसी माँग उठा रहे हैं)। चण्डीगढ़ को हरियाणा-पंजाब की संयुक्त राजधानी बनाये जाने को वे "क़ौम से उसकी राजधानी छीन लिये जाने" की धक्केशाही क़रार देते हैं। यह सच है कि 58 पंजाबी भाषी गाँवों को विस्थापित करके चण्डीगढ़ बना है लेकिन इतिहास में हर ग़लती को पीछे जाकर दुरुस्त नहीं किया जा सकता। अगर इसी तर्क को आगे बढ़ाया जाये तो बात बहुत दूर तक जायेगी। इतिहास के एक दौर में यहूदियों को इज़राइल-फ़िलिस्तीन के इलाक़े से उजड़कर जाना पड़ा था, तो इनके तर्क से तो 1948 में इज़राइल को फिर से "बसाना" और फ़िलिस्तीनियों को उजाड़ना सही होना चाहिए!? पूँजीवादी विकास के क्रम में विशाल कारख़ाने लगाने या औद्योगिक टाउनशिप बसाने के लिए दर्जनों गाँवों को, वहाँ के मूल निवासियों को उजाड़ा गया; तो क्या उन सभी जगहों पर इतिहास का चक्का उल्टा घुमाया जायेगा? इतिहास की ग़लतियों को दुरुस्त करने की यह पूरी सोच प्रतिक्रियावादी है। कभी 1966 के विभाजन पर तो कभी चण्डीगढ़ पर और कभी भाषाई आधार पर दोबारा बँटवारे की माँग पर अटक जाने की प्रवृत्ति को पंजाबी 'बिगनेशन शॉविनिज़्म' नहीं, तो भला और क्या कहा जायेगा? महापंजाब की लालसा करने को "अन्धराष्ट्रवादी नॉस्टैल्जिया" नहीं तो भला और क्या कहा जायेगा?

आप कहते हैं कि "अगर पंजाब का फिर से एकीकरण होता है तो इससे किसे तकलीफ़ हो सकती है?" दरअसल सवाल यह होना चाहिए कि पूरे उपमहाद्वीप के एकीकरण के बजाय केवल पंजाब के एकीकरण के बारे में सोचने वाले किस तरह के कम्युनिस्ट हैं। वैसे किसी भी तरह के एकीकरण को लेकर हवाई क़िले बनाने और आह-वाह करने वाले भी कम्युनिस्ट नहीं हो सकते। कम्युनिस्ट यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़े होकर सोचते और काम करते हैं, भावुक विचारों के बादलों में बैठकर गगन विहार नहीं किया करते।

कम्युनिस्टों को साफ़गो भी होना चाहिए। जब आपका शुरू से यही मानना था तो खुलकर यही कहना चाहिए था कि हमको बड़ा पंजाब चाहिए, इतने छोटे-से पंजाब में हमसे क्रान्ति नहीं हो पा रही। तब भाषा और बोलियों आदि पर घुमा-घुमाकर नाक पकड़ने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। जैसाकि एक साथी ने कहा है, "फिर तो माँ बोली सम्मेलन नहीं बल्कि वाघा बॉर्डर पर महापंजाब सम्मेलन ही बुला लिया होता!" उसके छाते के नीचे आपकी सारी माँगें ज़्यादा अच्छी तरह आ जातीं।

एक बार फिर दोहरा दें कि हम पंजाब और बंगाल ही नहीं, पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के एकीकरण के समर्थक हैं। हम पूँजीवाद और साम्राज्यवाद द्वारा खींची गयी राष्ट्रों की नकली सीमाओं के अन्ततः ख़ात्मे का सपना देखते हैं। लेकिन हम जानते हैं कि यह तभी सम्भव है जब पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की मेहनतकश जनता उठ खड़ी होगी और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को अपनी सरज़मीं से उखाड़ फेंकेगी। केवल तभी तमाम राष्ट्रीयताओं के साझे संघ की स्थापना सम्भव है। भारतीय और पाकिस्तानी पूँजीवादी राज्यसत्ताओं के रहते भला कौन-से जादू से पंजाब एक हो जायेगा? आने वाले दशकों में यह सपना हक़ीक़त तभी बन सकेगा जब आज हवाई मुद्दे खड़े करके मेहनतकशों के बीच बँटवारे पैदा करने के बजाय लोगों को उनकी ज़िन्दगी के वास्तविक मुद्दों पर एकजुट किया जाये। ऐसा न करके, अन्धराष्ट्रवाद, अस्मितावाद और लोकरंजकता को हवा देने वाले दरअसल इस सपने के ख़िलाफ़ ही काम कर रहे हैं। उनकी नासमझी पर हँसी नहीं, तरस आता है और चिन्ता होती है।

●

भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों के नये गहने

मगर अफ़सोस, तर्कविहीनता के नंगेपन को गहनों से नहीं ढँका जा सकता!

● **सम्पादक मण्डल, 7 नवम्बर 2019**

जब कोई अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध करने के लिए कुतर्क करने लग जाये तो उसे कई दिक़्क़तें आती हैं। पहली तो यह कि वह भूल जाता है कि उसने पहले कौन-सा कुतर्क दिया था। दूसरा यह कि उसे तरह-तरह के द्रविड़ प्राणायाम करने पड़ते हैं। हमारे भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों की भी ऐसी ही स्थिति हो गयी है।

पहले इनका कहना था कि वे "महापंजाब" नहीं माँग रहे हैं। अब अपने कुतर्कों को बचाने के लिए नये-नये कुतर्कों की झड़ी लगाते-लगाते वे यह पूछने को मजबूर हो गये कि अगर कोई सीमा के दोनों पार के पंजाबों को एक करने की बात करता है, तो इसमें दिक़्क़त क्या है? मतलब अगर कोई "महापंजाब" बनाने की माँग करता है तो इसमें क्या दिक़्क़त है? तो महीने भर से यह क्यों कह रहे थे कि हम तो "महापंजाब" माँग ही नहीं रहे हैं? अगर कोई दिक़्क़त ही नहीं है, तो माँग ही लीजिए!

दूसरी बात, कोई भी कम्युनिस्ट निश्चय ही चाहेगा कि बाँट दिये गये लोग एक हो जायें। लेकिन भारत के सन्दर्भ में तो पूरे विभाजन को ही पलटने की बात होगी, सिर्फ़ पंजाब या बंगाल के विभाजन को नहीं। कोई भी कम्युनिस्ट तो कम-से-कम ऐसा ही करेगा। बंगाल का नाम भी इन्होंने बस इसलिए जोड़ दिया कि अपने पंजाबी राष्ट्रवाद को छिपा सकें।

तीसरी बात, पंजाब के एकीकरण की तुलना जर्मनी, वियतनाम, कोरिया आदि के हो चुके या सम्भावित एकीकरणों से करके हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने यह भी दिखला दिया कि न तो इन्हें इतिहास की कोई समझ है और न ही राजनीति की। ये कैसे भी उल्टी-सीधी तुलनाएँ करके अपनी ग़लत कार्यदिशा (लाइन) को सही दिखलाने के प्रयासों में लगे हुए हैं।

अब आते हैं हमारे भाषाई अस्मितावादियों के नये गहने पर। इन्होंने माओ के एक उद्धरण को पेश किया है जिसमें माओ कह रहे हैं कि "चीनी कम्युनिस्ट महान चीनी क़ौम का हिस्सा हैं" और इसके आधार पर इन्होंने पूछा है कि कौन-सा कम्युनिस्ट अपनी क़ौम पर गर्व नहीं करेगा! इसे कहते हैं विरोधी के तर्कों का जवाब देने की बजाय किसी प्रसंगेतर उद्धरण के पीछे छिपकर भागना। क्या बहस कभी भी इस बात पर थी कि अपनी क़ौम पर गर्व करना चाहिए या नहीं? नहीं! फिर इस उद्धरण का मक़सद? यह तोहमत थोपना कि हम ऐसा कह रहे हैं कि अपनी क़ौम पर गर्व नहीं करना चाहिए। इस रूप में हर क़ौम ही महान होती है, क्योंकि हमेशा ही उसके कुछ महान सकारात्मक होते हैं। लेकिन पहली बात तो यह है कि माओ के लिए कम्युनिस्ट का काम अपनी क़ौम पर गर्व करना या शर्म करना नहीं होता। **माओ लिखते हैं :**

"हमें कभी भी बड़ी शक्ति के अन्धराष्ट्रवाद का अहंकारी रवैया नहीं अपनाना चाहिए और हमारी क्रान्ति की विजय तथा हमारे निर्माण की कुछ उपलब्धियों के कारण घमण्डी नहीं हो जाना चाहिए। हर राष्ट्र, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उसकी कुछ अच्छाइयाँ और कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं।" (माओ, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं राष्ट्रीय कांग्रेस में उद्घाटन भाषण', 15 सितम्बर 1956)

माओ मानते हैं कि हर क़ौम के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही होते हैं और इसीलिए कम्युनिस्ट उस पर गर्व या शर्म नहीं करते। राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में कम्युनिस्टों का काम एक ऐसी राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण होता है, जिसमें अपनी क़ौम के सकारात्मक हों और अन्य क़ौमों की संस्कृतियों के भी सकारात्मक हों। लेकिन इससे भी प्रमुख बात यह है कि माओ के लिए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ था साम्राज्यवाद-विरोधी सामन्तवाद-विरोधी संस्कृति। वे लिखते हैं :

"नव-जनवादी संस्कृति राष्ट्रीय है। यह साम्राज्यवादी उत्पीड़न का विरोध करती है और चीनी राष्ट्र के सम्मान और स्वतंत्रता का समर्थन करती है।" (माओ, 'नव-जनवाद के बारे में')

दूसरी बात, चीन देश में कोई एक क़ौम ही नहीं थी और न ही माओ यहाँ चीन की प्रमुख राष्ट्रीयता के बारे में ही बात कर रहे हैं। वे चीनी क़ौम की बात यहाँ साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित एक देश के रूप में कर रहे हैं, जिसमें कई राष्ट्रीयताएँ हैं। यह साम्राज्यवादी दमन ही उन्हें एक क़ौम के रूप में संघटित करता है। माओ लिखते हैं :

"यहाँ रहने वाले दस में से नौ लोग हान राष्ट्रीयता के हैं। यहाँ मंगोल, हुई, तिब्बती, उइगुर, मियाओ, यी, चुआङ, चुङचिया और कोरियाई राष्ट्रीयताओं सहित बीसियों अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएँ भी हैं, जिन सभी का लम्बा इतिहास है, हालाँकि वे सांस्कृतिक विकास के अलग-अलग स्तरों पर हैं। इस प्रकार चीन अनेक राष्ट्रीयताओं से बनी विशाल आबादी वाला देश है।" (माओ, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति')

इसी रचना में माओ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का चरित्र भी बताते हैं।

"निस्सन्देह रूप से, मुख्य कार्यभार इन दो दुश्मनों पर चोट करना है, विदेशी साम्राज्यवादी उत्पीड़न को उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय क्रान्ति सम्पन्न करना और सामन्ती भूस्वामियों के

उत्पीड़न को उखाड़ फेंकने के लिए जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करना, जिसमें प्राथमिक और सर्वोपरि कार्यभार है साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय क्रान्ति।" *(वही)*

स्पष्ट है कि माओ के लिए एक साझा चीनी क़ौम का अर्थ इसी रूप में है कि वह साम्राज्यवाद द्वारा दमित है। अपने आप में क़ौमियत उनके लिए जश्न मनाने का मुद्दा नहीं है और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में तो इसका प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। राष्ट्रीय संस्कृति के बारे में निम्न उद्धरण से यह बात और स्पष्ट हो जाती है :

"एक राष्ट्रीय, वैज्ञानिक और जन संस्कृति – ऐसी है जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी संस्कृति, नव जनवाद की संस्कृति, चीनी राष्ट्र की नयी संस्कृति।" (उपरोक्त)

यानी, राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी माओ के लिए राष्ट्र की सम्पूर्ण संस्कृति का जश्न मनाना नहीं था, बल्कि यह राष्ट्रीय संस्कृति इसी रूप में प्रगतिशील हो सकती है कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी हो और साथ ही वैज्ञानिक व जनवादी हो। और यह स्वतः मौजूद नहीं होती है, बल्कि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में निर्मित होती है। इसे समझने के लिए आप 'नवजनवाद के बारे में' पढ़ सकते हैं।

लेकिन **हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने तो माओ को राष्ट्रवादी ही बना दिया है!**

माओ हान बिग शॉविनिस्ट राष्ट्रवाद के साथ ही अन्य राष्ट्रीयताओं में पनपने वाले राष्ट्रवाद को भी एक दुश्मन ही मानते थे। माओ लिखते हैं :

"इस प्रश्न को हल करने की कुंजी है हान अन्धराष्ट्रवाद को दूर करना। **साथ ही जहाँ कहीं अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद (local-nationality chauvinism) मौजूद हो, वहाँ उसे दूर करने के प्रयास भी किये जाने चाहिए। विभिन्न जातियों की एकता के लिए हान अन्धराष्ट्रवाद और स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद, दोनों ही हानिकर होते हैं। यह जनता के बीच का एक अन्तरविरोध है जिसे हल किया जाना चाहिए।**" (माओ, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में')

हमने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिये जाने पर आये अमित शाह के बयान पर तत्काल आलोचना और विरोध किया था। लेकिन साथ ही हम किसी भी प्रकार के राष्ट्रवाद या राष्ट्रवादी विचलन का विरोध करते हैं। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावादियों व राष्ट्रवादियों के लिए केवल भारतीय राष्ट्रवाद ख़तरा है (जिसकी वाहक उनके लिए हिन्दी भाषा है!) लेकिन पंजाबी राष्ट्रवाद और बिग नेशन शॉविनिज़्म नहीं है! होगा भी कैसे? उसके नुमाइन्दे तो ख़ुद ये ही लोग बने हुए हैं! लेकिन माओ के एक उद्धरण की ग़लत व्याख्या करके वे अपने राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई अस्मितावाद को सही ठहराने के लिए द्रविड़ प्राणायाम किये जा रहे हैं। इनकी यह सोच अन्त में जनता के बीच के दोस्ताना अन्तरविरोधों को भी दुश्मनाना अन्तरविरोध में तब्दील कर देगी।

हमने इस बहस के शुरू में जब कहा था कि स्तालिन ने बताया है कि राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व भूमि का प्रश्न और/या औपनिवेशीकरण का प्रश्न होता है, तो इन्होंने आरोप लगाया था कि हम झूठ बोल रहे हैं और स्तालिन ने ऐसा कहीं नहीं कहा है। हमने उस वक़्त भी उद्धरणों समेत अपनी बात को पुष्ट किया था, जिस पर हमारे भाषाई अस्मितावादी चुप मार गये। देखें स्तालिन क्या कहते हैं :

"... किसान राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य सेना होते हैं, … किसानों की सेना के बिना कोई शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं है, न ही हो सकता है। जब यह कहा जाता है कि, ***सार रूप में, राष्ट्रीय प्रश्न किसान प्रश्न है,*** तो उसका यही मतलब होता है।" (Stalin, Works, Eng. ed., FLPH, Moscow, 1954, Vol. VII, pp. 71-72)

आगे हमारे भाषाई अस्मितावादी कहते हैं कि जब मार्क्सवादी साहित्य में रूसी सर्वहारा, चीनी सर्वहारा, जर्मन सर्वहारा लिखा जाता है तो इसका अर्थ होता है कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है। निश्चित तौर पर दुनिया जब तक राष्ट्रों में बँटी है, तब तक किसी भी वर्ग का व्यक्ति चाहे वह सर्वहारा हो या बुर्जुआ, जन्म से तथा स्थान व भाषा से किसी न किसी राष्ट्र का होगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है। मार्क्स व एंगेल्स लिखते हैं :

"कम्युनिस्टों और दूसरी मज़दूर पार्टियों में सिर्फ़ यह अन्तर है कि : 1. विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के सभी भेदभावों को छोड़कर वे पूरे सर्वहारा वर्ग के सामान्य हितों का पता लगाते हैं और उन्हें सामने लाते हैं...

"कम्युनिस्टों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे देशों और राष्ट्रीयता को मिटा देना चाहते हैं।

"मज़दूरों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे छीना नहीं जा सकता है। चूँकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में अग्रणी वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, ख़ुद अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित करना है, अतः इस हद तक वह स्वयं राष्ट्रीय चरित्र रखता है, गोकि इस शब्द के बुर्जुआ अर्थ में नहीं।" (मार्क्स, एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषाणपत्र')

चूँकि इन भाषाई अस्मितावादियों ने किताब में "जर्मन सर्वहारा", "रूसी सर्वहारा", "चीनी सर्वहारा" आदि जैसे शब्द पढ़ लिये तो इन्होंने नतीजा निकाल लिया कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है! सर्वहारा वर्ग सभी राष्ट्रों में है और इस रूप में हर राष्ट्र का सर्वहारा वर्ग है, जिसका पहला कार्यभार अपने राष्ट्र में वर्चस्वकारी बनना होता है, और इस रूप में अपने आपको ही एकमात्र "राष्ट्र" के रूप में संघटित करना होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता है सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता

है। यही कारण है कि वह मनुष्य जाति की सार्वभौमिकता की नुमाइन्दगी करता है और इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। यही वजह है कि 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' तो होता है, पर 'राष्ट्रीय सर्वहारा' जैसा कोई वर्ग नहीं होता।

हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने लेनिन को उद्धृत करके कहा है कि जो राष्ट्रीय दमन का विरोध नहीं करता, उस कम्युनिस्ट का अन्तरराष्ट्रीयतावाद थोथा है। सही बात है। लेकिन इससे असहमत कौन है? यदि ये कहना चाह रहे हैं कि पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है, तो इस पर केवल हँसा जा सकता है। इन्हें दमित राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय प्रश्न का अर्थ समझने के लिए स्तालिन को पढ़ लेना चाहिए। **और अगर पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है, जैसे कि कश्मीर की राष्ट्रीयता है और उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयताएँ हैं, तो इन्हें किसी भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वायत्तता की कार्यदिशा (लाइन) नहीं देनी चाहिए जैसे कि ओट्टो बावर दे रहे थे और जिसकी स्तालिन ने कठोर आलोचना की है। इन्हें तो सीधे राष्ट्रीय मुक्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए और चार वर्गों का मोर्चा बनाना चाहिए! लेकिन ऐसा ये कर ही नहीं रहे हैं!**

इन भाषाई अस्मितावादियों में से ही एक ने एक नयी अवधारणा पेश की है : **साम्राज्यवादी भाषा की अवधारणा!!** संस्कृति साम्राज्यवादी हो सकती है, राजनीति साम्राज्यवादी हो सकती है, लेकिन भाषा कैसे साम्राज्यवादी हो सकती है? यह मार्क्सवादी दृष्टिकोण तो है ही नहीं। भाषा का कोई वर्ग चरित्र नहीं होता है। यदि किसी भाषा को साम्राज्यवादियों ने हथियार बनाया हो तो भी वह साम्राज्यवादी भाषा नहीं होती है। मिसाल के तौर पर, अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी भाषा नहीं है। वह एक भाषा है। ये बात उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्तों को मानने वाले अस्मितावादी कहते हैं, जिनके अनुसार भाषा स्वयं सत्ता का लोकेशन होती है और भाषा किसी सत्ता की भाषा हो सकती है (लैंग्वेज ऑफ़ पावर!)। मार्क्सवाद का भाषा को लेकर यह नज़रिया ही नहीं है। लेकिन पढ़ने-लिखने से हमारे भाषाई अस्मितावादियों को विशेष तौर पर चिढ़ है। इसलिए सम्भवतः इन्हें यह पता भी नहीं है। इसीलिए यह किसी भाषा को ही साम्राज्यवादी क़रार देकर सोच रहे हैं कि इन्होंने क्या जुझारू क़िस्म का मार्क्सवादी सूत्रीकरण पेश किया है!

मार्क्सवाद-लेनिनवाद हर भाषा की बराबरी की बात करता है और किसी एक भाषा के वर्चस्व के ख़िलाफ़ है। हिन्दी वर्चस्ववाद और पंजाबी वर्चस्ववाद दोनों ही हमारे लिए पराये हैं। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावादी हिन्दी को "हत्यारी भाषा" क़रार देते हैं, क्योंकि वह बोलियों की हत्या करके पैदा हुई है *(हम पहले की पोस्टों में तर्क व तथ्य समेत दिखला चुके हैं कि अपने हिन्दी-विरोध में अन्धे हो चुके इन बन्धुओं को भाषा के इतिहास और सिद्धान्त दोनों के ही बारे में शून्य ज्ञान है)*! लेकिन **भाषा और बोली के अपने इस सिद्धान्त को वह पंजाबी भाषा पर लागू नहीं करते।** हमने पूछा कि पंजाबी भाषा और उसकी तमाम बोलियों में क्या सम्बन्ध है, तो इस पर इन्हें अभी भी सनाका ही मारा हुआ है। उड़ती-उड़ती ख़बर है कि इनका मानना है कि चूँकि पंजाबी भाषा को तमाम पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले समझ लेते हैं, इसलिए उनमें वैसा रिश्ता नहीं है! ग़ज़ब तर्क है! अस्मितावाद में बौराये इन लोगों को पता नहीं है कि हिन्दी भाषा परिवार में आने वाली बोलियाँ बोलने वाले भी हिन्दी भाषा को समझ लेते हैं। हर तर्कविहीन अस्मितावादी के समान ये अपने लिए एक्सेप्शनलिज़्म की माँग करते हैं।

अब ज़रा नीचे दिये गये **लेनिन** के उद्धरणों को पढ़ें और सोचें कि क्या यह एकदम सटीकपन के साथ हमारे भाषाई अस्मितावादियों पर लागू नहीं होते?

"रूस में, ख़ासकर 1905 के बाद, जब बुर्जुआ वर्ग के ज़्यादा समझदार सदस्यों को अहसास हुआ कि केवल ताक़त का ज़ोर कारगर नहीं है, तमाम तरह की "प्रगतिशील" बुर्जुआ पार्टियाँ और ग्रुप क़िस्म-क़िस्म के ऐसे बुर्जुआ विचारों और सिद्धान्तों की हिमायत करके मज़दूरों को *बाँटने* के तरीक़े का अधिकाधिक सहारा ले रहे हैं जिनका मक़सद मज़दूर वर्ग के संघर्ष को कमज़ोर करना है।

"ऐसा एक विचार परिशुद्ध (या बारीक – अनु.) राष्ट्रवाद का है, जो सर्वहारा को अनेक सत्याभासी और दिखावटी बहानों से बाँटने और उसमें फूट डालने की हिमायत करता है, जैसे उदाहरण के तौर पर, "राष्ट्रीय संस्कृति", "राष्ट्रीय स्वायत्तता, या स्वतंत्रता", आदि के हितों की रक्षा करना।

"वर्ग-सचेत मज़दूर हर *प्रकार* के राष्ट्रवाद के विरुद्ध लड़ते हैं, भोंड़े, हिंसक, ब्लैक-हण्ड्रेड राष्ट्रवाद के विरुद्ध भी, और उस बेहद बारीक राष्ट्रवाद के विरुद्ध भी **जो राष्ट्रों की समानता की बात ... राष्ट्रीयता के अनुसार मज़दूरों के ध्येय, मज़दूरों के संगठनों और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में फूट डालने के *साथ-साथ* करता है।** राष्ट्रवादी बुर्जुआ वर्ग की सभी क़िस्मों के विपरीत, वर्ग-सचेत मज़दूर, मार्क्सवादियों की हाल की (ग्रीष्म 1913) की कॉन्फ्रेंस के फ़ैसलों पर अमल करते हुए, न केवल राष्ट्रों और भाषाओं की सर्वाधिक सम्पूर्ण, सुसंगत और पूर्णतः क्रियान्वित *समानता* के पक्ष में हैं, बल्कि हर प्रकार के *एकीकृत* सर्वहारा संगठनों में अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों के *समेकीकरण* के भी पक्ष में हैं।

"मार्क्सवाद के राष्ट्रीय कार्यक्रम और किसी भी बुर्जुआ के राष्ट्रीय कार्यक्रम, चाहे वह कितना भी 'उन्नत' क्यों न हो, में मूलभूत फ़र्क़ यही है।" (लेनिन, 'मज़दूरों को बारीक राष्ट्रवाद से भ्रष्ट करना')

आगे देखें :

"राष्ट्रों और भाषाओं की समानता को मान्यता देना मार्क्सवादियों के लिए महत्वपूर्ण है, केवल इसीलिए नहीं क्योंकि

(पेज 73 पर जारी)

भाषाई अस्मितावादियों का नया उत्खनन उर्फ़ बन्दर के हाथ में उस्तरा

● **सम्पादक मण्डल, 8 नवम्बर 2019**

भाषाई अस्मितावादी और लोकरंजकतावादी इन दिनों काफ़ी परेशान हैं और विवेकपूर्वक सोचने की जगह अपनी अवस्थिति को किसी-न-किसी तरह से सही साबित करने की कोशिश में एक के बाद एक बचकानी हरकतें किये जा रहे हैं। अब उन्होंने पुरातात्विक उत्खनन का काम शुरू किया है और 19 साल पुराना एक लेख 'दायित्वबोध' पत्रिका से निकालकर ले आये हैं।

हालाँकि अपने भाषाई अस्मितावाद के बुखार से मुक्त होकर इस लेख को भी अगर वे एक मार्क्सवादी पाठक की तरह पढ़ लेते तो समझ जाते कि इस लेख के नतीजे भी उन नतीजों की पुष्टि नहीं करते हैं जो यह जमात लगातार पेश किये जा रही है। मगर मार्क्सवादी नज़रिये से चीज़ों को देखने-पढ़ने-सोचने की अक्षमता तो इन्होंने लगातार प्रदर्शित की ही है। तो यह लेख भी इसका अपवाद भला कैसे होता? भाषा के प्रश्न की और इस लेख की अपनी अधकचरी समझ के चलते इन्हें ऐसा लग रहा है मानो बहस में कोई ज़बर्दस्त हथियार इनके हाथ लग गया हो और ये बच्चों की तरह हर पोस्ट के क्मेंट में इस लेख का लिंक चेंपे जा रहे हैं।

लेख के निष्कर्षों पर विस्तार में जाने से पहले एक बात स्पष्ट करनी ज़रूरी है। ग्यारह वर्ष पहले बन्द हो चुकी 'दायित्वबोध' पत्रिका की प्रकृति मुख्यतः एक सिम्पोज़ियम की हुआ करती थी जिसमें कई ऐसी अवस्थितियों के निबन्ध प्रकाशित होते थे – चाहे राजनीतिक अर्थशास्त्र पर हों, पर्यावरण पर, स्त्री प्रश्न पर या भाषा जैसे प्रश्नों पर – जिनके साथ सम्पादक मण्डल की पूर्ण सहमति नहीं होती थी। उक्त लेख के लेखक नरेश प्रसाद भोक्ता एक अकादमीशियन हैं जिन्होंने ऐतिहासिक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के स्तर पर कई चूकें भी की हैं, लेकिन यह अलग मसला है जिस पर हम बाद में आयेंगे।

पहली बात, **पूरा लेख कहीं यह नहीं कहता कि हिन्दी भाषा इस क्षेत्र की अन्य सारी बोलियों को कुचलकर अस्तित्व में आयी जैसाकि इन कॉमरेडों का दावा है।** इसमें विभिन्न उदाहरणों के साथ जिस बात पर ज़ोर दिया गया है वह यह है कि औपनिवेशिक शासकों और उनके समर्थक मध्यवर्गीय कुलीनों ने अपनी गति से विकसित हो रही हिन्दी के विकास को अपनी ज़रूरतों के अनुसार जिस प्रकार से प्रोत्साहित किया, उसके चलते अन्य बोलियों-उपभाषाओं का विकास बाधित हुआ और कुछ लिपियाँ लुप्त हो गयीं। इसी लेख के मुताबिक़ (हिन्दी भाषा के इतिहास पर सबसे आरम्भिक काम करने वाले अंग्रेज़ विद्वान) "जी.ए. ग्रियर्सन ने व्याकरण के आधार पर हिन्दी से सम्बन्धित भाषाओं/बोलियों को तीन समूहों में बाँटा है एवं तीनों को अलग-अलग भाषाओं का दर्जा दिया है। ये हैं – बिहारी, पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिमी हिन्दी।" यानी **भाषा के तौर पर हिन्दी पहले से मौजूद थी** (ज़ाहिरा तौर पर, इसके अलग-अलग रूप मौजूद थे जैसाकि अंग्रेज़ी सहित दुनिया की लगभग सभी विकसित भाषाओं के मामले में था)। लेख यह भी बताता है कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्त एवं अवध में पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी से सम्बन्धित अनेक बोलियों या लोकभाषाओं का प्रयोग किया जाता था और पश्चिमी हिन्दी का क्षेत्र पंजाब के सरहिन्द से लेकर उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के इलाहाबाद तक फैला था। इसकी कई उपभाषाएँ हैं लेकिन इनमें अधिक प्रसिद्ध ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी, कन्नौजी एवं बुन्देली हैं। हिन्दुस्तानी, जो कि खड़ी बोली पर आधारित है, आधुनिक काल में साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में उभरकर सामने आयी।

हम पहले से बार-बार कह रहे हैं कि **शासक वर्ग किसी भाषा को निर्मित नहीं करता है, कर भी नहीं सकता।** वह अपने आर्थिक-सामाजिक हितों के मद्देनज़र आर्थिक क्रिया-व्यापार और सामाजिक-सांस्कृतिक क्रिया-व्यापार को बढ़ाने के लिए समाज-विशेष में जिस भाषा या बोली को अधिक अनुकूल पाता है उसके विकास पर बल देता है, उसे प्रोत्साहित करता है। केवल भारत नहीं, यूरोपीय इतिहास में भी इसके दर्जनों उदाहरण हैं।

औपनिवेशिक शासकों और औपनिवेशिक काल में विकसित मध्यवर्गीय कुलीनों के वर्ग ने **हिन्दी भाषा को जन्म नहीं दिया,** बल्कि उन्होंने अपने हितों के अधिक अनुकूल जानते हुए हिन्दी को अन्य बोलियों पर प्राथमिकता दी, उसके विकास पर ज़ोर दिया। इतिहास के और विस्तार में जायेंगे तो पायेंगे कि शुरुआती दौर में उन्होंने कचहरियों और सरकारी कामकाज में अंग्रेज़ी के अतिरिक्त फ़ारसी पर ज़ोर दिया, मगर कालान्तर में उर्दू-हिन्दी पर उनका ज़ोर अधिक रहा।

न.प्र.भो. के लेख में दिये गये आँकड़ों के अनुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी हिन्दी (जिसमें अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आती थीं) को बोलने वालों की संख्या

95,11,647 थी और इसका दायरा 1,87,500 वर्ग मील में फैला था और पश्चिमी हिन्दी (जिसमें हिन्दुस्तानी, बघेली (बंगारू), ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली आती थीं) को बोलने वालों की संख्या 3,80,13,922 थी और इसका दायरा 2,00,000 वर्ग मील में फैला था। इनमें सबसे बड़ी संख्या हिन्दुस्तानी बोलने वालों की (1,66,33,163) थी। यह लेख ही बताता है कि हिन्दी भाषा बोलियों की "हत्या करके" नहीं बनी। हिन्दी के अलग-अलग रूप पहले से मौजूद थे जिनमें से शासक वर्गों ने उस रूप के विकास को अपने हिसाब से प्रोत्साहित किया जो उनके वांछित आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक क्रिया-व्यापार के लिए अधिक अनुकूल था।

अब दूसरे प्रश्न पर आते हैं। न.प्र.भो. ने अपने लेख में कहा है कि ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली जैसी लोकभाषाएँ बिहार एवं उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की बहुसंख्य जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थीं। पहली बात भाषा की आधुनिक अवधारणा को समझने की है। हम इसे उसी रूप में समझते हैं जिस रूप में स्तालिन ने अपनी रचना 'मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ' में इसकी व्याख्या की है। मध्ययुगीन समाज में, जो धर्मकेन्द्रित समाज था, भारत ही नहीं, अन्य देशों में भी साहित्य की रचना बोलियों या उप-भाषाओं में मिलती है। कौन नहीं जानता कि तुलसी का रामचरित मानस अवधी में और कबीर, सूर, जायसी, रसखान आदि का साहित्य विभिन्न बोलियों/उपभाषाओं में है। मध्ययुगीन समाज में जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक ज़रूरतों को ये बोलियाँ/उपभाषाएँ पूरा कर सकती थीं। इनमें वे स्वयं को किसी हद तक अभिव्यक्त कर सकते थे। लेकिन आधुनिक काल में विज्ञान व तकनोलॉजी के विकास व आर्थिक-सामाजिक जीवन की बढ़ती जटिलताओं के साथ इन बोलियों में सामाजिक जन-जीवन की आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति अब सम्भव नहीं रह गयी थी। न केवल भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन, विधिशास्त्र आदि की बल्कि साहित्य-संस्कृति-कला आदि के क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति अब इन बोलियों में पूरी तरह सम्भव नहीं थी। ऐसे में आधुनिक भाषा का विकास समाज की आवश्यकता थी। भारत में पूँजीवादी विकास स्वाभाविक गति से नहीं बल्कि औपनिवेशिक सत्ता द्वारा थोपी गयी सामाजिक-आर्थिक संरचना में विकृत गति से हुआ। ऐसे में भाषा का विकास भी निश्चित रूप से कई थोपे गये क़दमों से प्रभावित हुआ। इससे इतर कुछ हो भी नहीं सकता था। मगर इसका अर्थ यही क़तई नहीं होता कि अगर यह थोपी गयी प्रक्रिया न घटित हुई होती तो सभी बोलियाँ भाषा के रूप में विकसित हो गयी होतीं।

जैसा कि स्तालिन अपनी पुस्तक में बताते हैं,

"स्थानीय 'क्षेत्रीय' उपभाषाएँ या बोलियाँ जनसमूह का हितसाधन करती हैं। इनका अपना व्याकरण-तंत्र और मूल शब्द-भण्डार होता है। इस दृष्टि से, कुछ क्षेत्रीय उपभाषाएँ, राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया के दौरान, राष्ट्रीय भाषाओं का आधार बन सकती हैं और स्वतंत्र राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रूसी भाषा की कुर्स्क ओरेल उपभाषा (कुर्स्क ओरेल स्पीच) के साथ ऐसा ही हुआ जो रूसी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। यही बात उक्रइनी भाषा की पोल्तावा कीव उपभाषा के साथ भी हुई जो उक्रइनी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। ऐसा ही दूसरी उपभाषाओं के साथ हुआ; उन्होंने अपना मूल स्वरूप खो दिया और उन्हीं में विलीन हो गयीं।

"इसके विपरीत प्रक्रियाएँ भी होती हैं, जब किसी एक राष्ट्रीयता की, जो विकास के लिए आवश्यक आर्थिक परिस्थितियों के अभाव में एक राष्ट्र न बन पायी हो, एक भाषा उस राष्ट्रीयता के राज्य के विघटन के फलस्वरूप ध्वस्त हो जाती है और क्षेत्रीय उपभाषाएँ, जिनके एक भाषा के रूप में एकीकृत होने का उपयुक्त समय नहीं आया रहता है, पुनर्जीवित होकर कई अलग, स्वतंत्र भाषाओं का निर्माण करती हैं। सम्भवतः ऐसा ही हुआ था जब एक मंगोल भाषा कई भाषाओं में विघटित हो गयी थी।" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाशास्त्र की समस्याएँ')

न.प्र.भो. अपने लेख में इस कालिक प्रवर्गीकरण (temporal categorization) की उपेक्षा करते हैं। भारत में आधुनिक शिक्षा और उद्योग-व्यापार का विकास औपनिवेशिक काल में शुरू हुआ। ज़ाहिरा तौर पर, उपनिवेशवादियों और उनसे जुड़े वर्गों ने जिस भाषा-लिपि को सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्क्रिया के सर्वाधिक अनुकूल पाया, उसी में उन्होंने शिक्षा देने की शुरुआत की। उत्तर भारत में मुख्य रूप से यह काम अंग्रेज़ी-हिन्दी-उर्दू में हुआ, कहीं-कहीं एक दौर में फ़ारसी भी इसका माध्यम बनी। इसमें अंग्रेज़ी ऐसी भाषा थी जिसकी जड़ें भारत में नहीं थीं। लेकिन हिन्दी की जड़ें इसी क्षेत्र में थीं। न.प्र.भो. का लेख बताता है कि यहाँ की बोलियों का जो विशद दायरा था उसी की एक धारा में से पूर्वी और एक धारा से पश्चिमी हिन्दी का विकास हुआ।

आधुनिक काल में जो बुर्जुआ समाज विकसित हुए उनमें पूँजीवादी श्रम विभाजन के साथ-साथ निश्चय ही आम उत्पादक वर्गों की अभिव्यक्ति की भाषा तथा बौद्धिक वर्ग की चिन्तन और अभिव्यक्ति की भाषा के बीच एक अलगाव पैदा हो जाता है। हिन्दी पट्टी की बोलियों वाले क्षेत्रों में गाँव

के आम किसान अपनी सामान्य बोलचाल में बोलियों का ही इस्तेमाल करते हैं लेकिन आबादी के उस हिस्से में से भी जो लोग शिक्षा हासिल करके विचारों की दुनिया में दख़ल देने लगते हैं उन्हें हिन्दी में सोचने-बोलने-अभिव्यक्त करने की ज़रूरत होती है। विभिन्न बोलियों वाले व्यापक हिन्दी क्षेत्र की यह विशिष्टता है। लेकिन अगर तमिल, मलयालम, कन्नड़ या बंगला को देखें तो यह फ़र्क़ इस रूप में वहाँ मौजूद नहीं है, हालाँकि वहाँ भी आम बोलचाल की भाषा और लिखित भाषा में पर्याप्त अन्तर है।

एक बार फिर यह स्पष्ट कर दें कि हरेक बोली भाषा के तौर पर विकसित हो सके, यह ज़रूरी नहीं। आमतौर पर होता यह है कि विभिन्न बोलियों का साहित्य (लिखित या अलिखित) और शब्दभण्डार भाषा को आधार मुहैया कराता है। आगे चलकर मानकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रने के बाद कोई भाषा ढलती है और विकसित होती है। यह मानकीकरण स्वाभाविक गति से भी होता है और शासक वर्गों द्वारा लागू नीतियों के दबाव में भी होता है। भाषा के विकसित हो जाने के लम्बे समय बाद तक भी बोलियाँ जीवित रह सकती हैं। मगर विकास की इस प्रक्रिया में जो बोलियाँ पीछे छूट जाती हैं, इतिहास में पीछे जाकर उन्हें फिर से विकसित करने के मन्सूबे बचकाने और निरर्थक होते हैं और भाषा की मार्क्सवादी समझ के विपरीत होते हैं।

भाषा ही क्यों, वर्ग समाज के इतिहास में हुई तमाम त्रासदियों, दुर्घटनाओं, अन्यायों को जो लोग पीछे जाकर ठीक करना चाहते हैं वे मार्क्सवादी नहीं, रूमानी यूटोपियावाद के शिकार हैं। उन्हें मार्क्सवाद के उपकरण की नहीं बल्कि किसी टाइममशीन की तलाश करनी चाहिए। जैसाकि प्लेखानोव ने कहा है, "ज़िन्दा लोग ज़िन्दा सवालों पर सोचते हैं।" वे गड़े मुर्दे उखाड़ने में नहीं लगे रहते। पूरे भारत के भाषाई परिदृश्य को हमारे औपनिवेशिक अतीत ने जिस तरह से प्रभावित किया है, उसे हम अतीत में पीछे जाकर ठीक नहीं कर सकते।

इतिहास-विकास के क्रम में भाषा न बन पायी बोलियों/उपभाषाओं को आज की तारीख़ में फिर भाषा के रूप में विकसित करने का कार्यभार हमारा नहीं है। किसी समाजवैज्ञानिक या क्रान्तिकारी के सामने यह जीवन्त-ज्वलन्त सवाल है ही नहीं। जो लोग ऐसे ग़ैर-मुद्दों को मुद्दा बनाने में लगे हुए हैं वे जनता की सस्ती भावनाओं को भुनाने के चक्कर में आज के वास्तविक सवालों को दरकिनार करके अनजाने में ही किसकी मदद कर रहे हैं, इसे कोई भी समझ सकता है।

●

भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों के नये गहने

(पेज 70 से जारी)

वे सबसे सुसंगत जनवादी होते हैं। राष्ट्रीय अविश्वास, अलगाव, सन्देह और शत्रुता की हर निशानी को ख़त्म करने की दृष्टि से राष्ट्रों की सम्पूर्णतम समानता मज़दूरों के वर्ग संघर्ष में सर्वहारा एकजुटता और कॉमरेडाना एकता के हितों की माँग है। और पूर्ण समानता में किसी एक भाषा के सभी विशेषाधिकारों को ख़ारिज किया जाना और सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के *अधिकार* की मान्यता अन्तर्निहित है।

"लेकिन बुर्जुआ वर्ग के लिए राष्ट्रीय समानता की माँग का मतलब अक्सर ही अमल में **राष्ट्रीय विशिष्टता और अन्धराष्ट्रवाद** की हिमायत करना होता है; अक्सर ही वे इसे राष्ट्रों के विभाजन और अलगाव की *हिमायत* के साथ मिला देते हैं। यह सर्वहारा *अन्तरराष्ट्रीयतावाद* के साथ *पूरी तरह* असंगत है, जो न केवल राष्ट्रों के बीच *नज़दीकी सम्बन्धों* की, बल्कि किसी राज्य में सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों के *एकीकृत* सर्वहारा संगठनों में *समेकीकरण* की हिमायत करता है। इसीलिए मार्क्सवादी तथाकथित 'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता', यानी इस विचार की पुरज़ोर भर्त्सना करते हैं कि शैक्षणिक मामलों को राज्य के हाथों से *लेकर सम्बन्धित* राष्ट्रीयताओं को सौंप दिया जाना चाहिए। इस योजना का मतलब है कि 'राष्ट्रीय संस्कृति' के सवालों में शैक्षणिक मामले किसी राज्य परिसंघ में राष्ट्रीयताओं के अनुसार *राष्ट्रीय संघों* में विभाजित कर दिये जायेंगें, जिनमें से हरेक की अपनी अलग 'डायट', शैक्षणिक बजट, स्कूल बोर्ड और शैक्षणिक संस्थान होंगे।" *(वही)*

लोकरंजकतावाद की अपनी गति होती है। इन्होंने तो एक भूतपूर्व अपराधी के द्वारा, जो कि राजनीति में आना चाहता है, ऐसी ही सस्ती और निचली कोटि की भाषाई अस्मितावादी कार्रवाइयों की हिमायत भी की थी। यह भूतपूर्व अपराधी हाइवे पर लगे मील के पत्थरों पर से हिन्दी और अंग्रेज़ी में की गयी लिखावट पर कालिख पोत रहा था! उसे इन्होंने 'दबी हुई भावनाओं की अभिव्यक्ति' क़रार दिया था। लेकिन यही काम अगर अमित शाह के गुण्डे दिल्ली के साइनबोर्डों पर पंजाबी के साथ करें तो हम सभी उसकी निन्दा करेंगे। ये अस्मितावादी लोग भी करेंगे। अगर कनाडा की संसद की कार्यवाही का प्रसारण पंजाबी में होता है तो ये जस्टिन त्रूदो को बधाई देने में देर नहीं लगाते। ये ही लोग इस माँग का समर्थन भी करते हैं कि पंजाब में सारी शिक्षा और सारा सरकारी कामकाज *केवल* पंजाबी में होना चाहिए। यानी कि वहाँ के 27 लाख प्रवासियों को मातृभाषा में पढ़ने और सभी कामकाज का कोई हक़ नहीं होना चाहिए। ये सभी दोहरे मापदण्ड इनके राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी दोहरे मानकों को नंगा कर देते हैं।

●

भाषाई अस्मितावादियों से न्गूगी वा थ्योंगो को बचाओ!

● **सम्पादक मण्डल, 9 नवम्बर 2019**

हाल ही में भाषाई अस्मितावादियों ने 'आह्वान' के एक पुराने अंक में छपे **न्गूगी वा थ्योंगो** के एक लेख से एक उद्धरण पेश किया है। शायद उनका मक़सद यह साबित करना है कि इस उद्धरण के अनुसार भाषा का भी साम्राज्यवादी चरित्र हो सकता है यानी कि उसका वर्ग चरित्र हो सकता है। पहली बात तो यह है कि इस उद्धरण में न्गूगी ने ऐसी कोई बात ही नहीं कही है। अगर अपनी भाषाई कट्टरता को छोड़कर हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने थोड़ा ठण्डे दिमाग़ से यह उद्धरण पढ़ा होता तो उनकी समझ में आ जाता कि न्गूगी यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं कह रहे हैं। न्गूगी कह रहे हैं कि भाषा भी वर्ग संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा का स्वयं कोई वर्ग चरित्र होता है। यदि कोई राज्यसत्ता किसी भाषा को अपनी आधिकारिक भाषा के रूप में अपनाती है और इसे अन्य भाषाभाषियों पर थोपती है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उस भाषा का ही कोई वर्ग चरित्र हो जाता है। इसका केवल यह अर्थ है कि उस भाषा को साम्राज्यवादी या शासक वर्ग अपने दमन का उपकरण बना रहे हैं। दूसरी बात यह है कि भाषा के प्रयोग-धर्म (usage) का वर्ग चरित्र होता है। मिसाल के तौर पर, एक ही भाषा को बोलने वाले कुलीन वर्ग के लोग और आम मेहनतकश आबादी उसका अलग-अलग रूप में प्रयोग करते हैं क्योंकि उनके जीवन-सन्दर्भ अलग-अलग होते हैं। लेकिन भाषा का अपने आप में कोई वर्ग चरित्र नहीं होता है। **स्तालिन** ने अपनी प्रसिद्ध कृति **'मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान की समस्याएँ'** में इसे बेहतरीन तरीक़े से समझाया है।

इसी पुस्तक में स्तालिन यह भी कहते हैं : "लोगों के बीच परस्पर सम्पर्क के साधन के रूप में, भाषा की क्रियात्मक भूमिका दूसरे वर्गों को क्षति पहुँचाकर किसी एक वर्ग की सेवा करना नहीं बल्कि समान रूप से पूरे समाज की, उसके सभी वर्गों की सेवा करने की होती है। दरअसल यह इस बात को स्पष्ट करता है कि क्यों कोई भाषा समान रूप से पुरानी, मरणासन्न व्यवस्था और नयी उदयोन्मुख व्यवस्था – दोनों की ही (पुराने और नये – दोनों मूलाधारों की, शोषक और शोषित – दोनों की) सेवा करती है।

"यह बात हर आदमी जानता है कि रूसी भाषा ने अक्टूबर क्रान्ति के पूर्व रूसी पूँजीवाद और रूसी पूँजीवादी संस्कृति का हितपोषण उसी प्रकार किया, जिस प्रकार वह अब रूसी समाज की समाजवादी व्यवस्था और समाजवादी संस्कृति का कर रही है।

"यही बात उक्रइनी, बेलारूसी, उज़बेक, कज़्ज़ाक, जॉर्जियाई, आर्मीनियाई, एस्तोनियाई, लातवियाई, लिथुआनियाई, मोल्दावियाई, तातार, अज़रबैजानियाई, बश्कीर, तुर्कमान तथा सोवियत राष्ट्रों की ऐसी दूसरी अन्य भाषाओं के साथ भी लागू होती है। इन भाषाओं ने इन राष्ट्रों की पुरानी पूँजीवादी व्यवस्थाओं का उसी प्रकार पक्षपोषण किया जिस तरह नयी समाजवादी व्यवस्था का।"

आगे फिर वे बताते हैं : "पूँजीवाद के उदय, सामन्ती वर्गीकरण की समाप्ति एवं राष्ट्रीय बाज़ारों के निर्माण के साथ ही राष्ट्रीयताओं का विकास राष्ट्रों में एवं राष्ट्रीयताओं की भाषाओं का विकास राष्ट्रीय भाषाओं में हुआ। इतिहास बताता है कि राष्ट्रीय भाषाएँ वर्ग-भाषाएँ नहीं बल्कि सामान्य भाषाएँ थीं जो राष्ट्र के सभी सदस्यों के लिए सामान्य थीं और पूरे राष्ट्र में एक थीं।

"ऊपर कहा जा चुका है कि भाषा एक समाज के लोगों के बीच सम्पर्क-सूत्र के रूप में उस समाज के सभी वर्गों की सेवा समान रूप से करती है। और इस सन्दर्भ में, हम कह सकते हैं कि यह समाज के वर्गों के प्रति तटस्थता का रुख़ अख़्तियार करती है! लेकिन लोग, विभिन्न सामाजिक जमातें, या यूँ कहें कि विभिन्न वर्ग भाषा के प्रति तटस्थ क़तई नहीं होते। वे भाषा का अपने हित में उपयोग करने का सदैव प्रयास करते हैं, भाषा पर अपनी विशेष 'जमाती भाषा' ('लिंगो'), विशेष पारिभाषिक शब्दों और विशेष अभिव्यक्तियों को आरोपित करना चाहते हैं। विशेषकर अभिजात सामन्त वर्ग और बड़े पूँजीपतियों जैसे ऊपरी तबक़े के धनी वर्ग, जो जनता से स्वयं को पूर्णतः काट चुके हैं और उससे नफ़रत करते हैं, इस सन्दर्भ में अपने को भिन्न या आम लोगों से अलग प्रदर्शित करते हैं। इस तरह वर्ग-उपभाषा ('क्लास डायलेक्ट'), वर्ग-बोली ('जार्गन') या उच्चवर्गीय भाषा बनती हैं। इन वर्ग-उपभाषाओं या वर्ग-बोलियों का हवाला साहित्य में अक्सर ग़लत ढंग से 'अभिजात भाषा' या 'पूँजीवादी भाषा' के रूप में, 'सर्वहारा भाषा' या 'किसान भाषा' के विरोध में रखते हुए दिया जाता है।..." (सभी उद्धरण, स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाशास्त्र की समस्याएँ')

हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने हिन्दी को हत्यारी भाषा क़रार दे दिया है! उनके कुछ समर्थक इसे साम्राज्यवादी भाषा बता रहे हैं। आइए देखते हैं कि **स्वयं न्गूगी वा थ्योंगो के उस भाषा और उसके साहित्य के बारे में, यानी अंग्रेज़ी भाषा के बारे में क्या विचार थे जिसको थोपे जाने और जिसे राज्यसत्ता द्वारा साम्राज्यवाद का वाहक बनाये जाने के विरुद्ध वे संघर्ष कर रहे थे।** न्गूगी कहते हैं : **"मेरे शेक्सपियर हमेशा मेरे पास रहते हैं। डिकेंस के चरित्रों का दायरा अद्भुत था। ये बात शेक्सपियर के बारे में भी कही जा सकती है। और अब जबकि मैं एक लेखक हूँ तो मैं ज़्यादा अच्छी तरह से समझ सकता हूँ कि वे क्या करने की क्षमता रखते थे। इसलिए मेरी आलोचना अंग्रेज़ी साहित्य की गुणवत्ता और उसके मूल्य के विषय में नहीं है, बल्कि विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के बीच बना दिये गये पदानुक्रम और सत्ता सम्बन्धों की है, जिसके कारण अंग्रेज़ी**

(पेज 77 पर जारी)

भाषाई अस्मितावादियों के हवाई दावे और भाषा-बोली को लेकर बचकानी, हठीली नासमझियाँ

● **सम्पादक मण्डल, 11 नवम्बर 2019**

भाषाई अस्मितावादियों का दावा है कि पूरी हिन्दी पट्टी में हिन्दी भाषा बोलने वालों की तादाद केवल 4-5 करोड़ है। बाक़ी आबादी ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मागधी, हरियाणवी आदि बोलती है, जो कि अलग भाषाएँ हैं, हालाँकि हिन्दी द्वारा दमन के कारण उनका अलग भाषाओं के रूप में विकास नहीं हो पाया। हमेशा की तरह यह दावा इन्होंने बिना किसी स्रोत के, बिना किसी साक्ष्य के उछाल दिया है। मज़े की बात है कि यह तर्क इन पंजाबी बिग नेशन शॉविनिस्ट्स द्वारा केवल हिन्दी भाषा पर ही लगाया जाता है, पंजाबी भाषा पर नहीं। इन्हीं के तर्क से पंजाबी भाषा की अलग-अलग बोलियों जैसे कि माझी, दुआबी, मुलतानी, पुआधी, मलवई, राठी, डेरावाली आदि को अलग भाषाएँ क्यों न माना जाये? क्या यह नियम सिर्फ़ हिन्दी के लिए है? यह सवाल हम पहले भी कई बार पूछ चुके हैं लेकिन इस पर इनके पास कोई जवाब नहीं है, क्योंकि इनकी पूरी अवस्थिति हिन्दी-विरोध की बन गयी है, भले ही बीच में इनका कोई साथी यह जुमला उछाल दे कि हम हिन्दी-विरोधी नहीं हैं।

अब दूसरे प्रश्न पर आते हैं। कोई मार्क्सवादी किसको भाषा और किसे बोली मानता है। यदि ये कतिपय कॉमरेड इस प्रश्न पर स्तालिन द्वारा पेश क्लासिकीय मार्क्सवादी अवस्थिति को ही मानते हैं तो हिन्दी और उसकी बोलियों के बीच सम्बन्ध के बारे में उनका पूरा नज़रिया ही भाषाई अस्मितावादी है, न कि मार्क्सवादी। देखें कि स्तालिन इस विषय में क्या कहते हैं। स्तालिन लिखते हैं :

"जैसा कि हम जानते हैं, एक भाषा के सभी शब्दों को एक साथ एकत्र करने से बने संग्रह को उस भाषा के शब्द-भण्डार (वॅकेब्युलरी) नाम से जाना जाता है। एक भाषा के शब्द-भण्डार में मुख्य चीज़ इसके शब्दों का मूल भण्डार होता है जिसमें सारतत्व के रूप में सभी मूल शब्द शामिल होते हैं। यह उक्त भाषा के पूरे शब्द-भण्डर से काफ़ी कम व्यापक होता है; लेकिन काफ़ी लम्बे समय तक, शताब्दियों तक बना रहता है और भाषा को नये शब्दों के निर्माण के लिए आधार प्रदान करता है। शब्द-भण्डार भाषा की स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। जितना ही समृद्ध और वैविध्यपूर्ण शब्द-भण्डार होता है उतनी ही समृद्ध और विकसित भाषा होती है।

"फिर भी, शब्द-भण्डार अपने-आप भाषा की रचना नहीं करता; बल्कि यह उसके निर्माण में लगने वाली सामग्री मात्र है। जिस तरह किसी भवन के निर्माण में केवल उसमें लगने वाली वस्तुओं से ही भवन नहीं बन जाता (हालाँकि यह उनके बिना भी नहीं बन सकता) उसी तरह शब्द-भण्डार मात्र से ही भाषा का निर्माण नहीं हो जाता; हालाँकि इसके बग़ैर भी भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन एक भाषा के शब्द-भण्डार को उस समय ज़बर्दस्त शक्ति मिल जाती है जब इसे व्याकरण का नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, जो शब्दों में परिवर्तन और उनके वाक्यों में संयोजन के नियमों को परिभाषित करता है और इस तरह भाषा को एक सुसंगत और सार्थक क्रिया बना देता है। व्याकरण (रूप-विज्ञान, वाक्य-विन्यास) उन नियमों का संग्रह है जो शब्दों के परिवर्तन और वाक्यों में उनके संयोजन को नियंत्रित करते हैं। इसीलिए व्याकरण की बदौलत ही भाषा के लिए मनुष्य के विचारों को अपने (भाषा के) भौतिक आवरण में प्रतिष्ठापित कर पाना सम्भव हो पाता है।

"व्याकरण की मुख्य गुणदर्शी विशेषता यह है कि वह शब्दों में परिवर्तन के नियमों को किन्हीं निश्चित, ठोस शब्दों के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी प्रकार के शब्दों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। वह वाक्य-रचना के नियमों को किन्हीं विशेष प्रकार के, निश्चित वाक्यों – यों कहें कि निश्चित कर्ता और निश्चित विधेय आदि – के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी वाक्यों के लिए, उनके सुनिश्चित रूप से निरपेक्ष होकर प्रस्तुत करता है। इस तरह, शब्दों और वाक्यों – दोनों के सन्दर्भ में, विशिष्ट और सुनिश्चित प्रकारों से अपने को अमूर्त या निरपेक्ष बनाते हुए व्याकरण उन चीज़ों को अपनाता है जो शब्दों के परिवर्तन और वाक्यों की रचना में आधारभूत और सामान्य होती हैं और उन्हें व्याकरण के नियमों की शक्ल देता है – व्याकरण मानव-मस्तिष्क द्वारा काफ़ी लम्बे समय से सम्पन्न की जा रही अमूर्तीकरण ('एब्सट्रैक्शन') की प्रक्रिया का प्रतिफलन है। यह चिन्तन की ज़बर्दस्त उपलब्धियों का एक पैमाना है।

"इस सन्दर्भ में व्याकरण काफ़ी हद तक ज्यामिति से मिलता-जुलता है जो ठोस वस्तुओं से अमूर्तन की प्रक्रिया द्वारा अपने नियम बनाती है और उन वस्तुओं को ठोसपन या निश्चितता से रहित पिण्डों की तरह लेती है तथा उनके बीच के सम्बन्धों को ठोस, निश्चित वस्तुओं के निश्चित सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करने के बजाय सभी प्रकार के ठोसपन या निश्चितता ('कांक्रीटनेस') से रहित पिण्डों के सम्बन्धों के

रूप में परिभाषित करती है।" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ')

इससे स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की मूल चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है : एक व्यवस्थित लेक्सिकन (शब्द भण्डार) और एक व्यवस्थित व्याकरणिक व्यवस्था। इसके बिना किसी भी बोली को भाषा नहीं कहा जा सकता है। बोलियों में एक शब्द भण्डार होता है, लेकिन वह मानकीकृत नहीं होता और एक ही बोली के शब्द कुछ ही किलोमीटर की दूरियों पर अपने अर्थ बदल सकते हैं। यही बात उनके अमानकीकृत व्याकरणिक ढाँचे के बारे में भी कही जा सकती है। ऐसे में, इन बोलियों में ज्ञान-विज्ञान व दर्शन की विभिन्न शाखाओं के जटिल विनिमय सम्भव नहीं हैं। वैज्ञानिक व दार्शनिक संवाद तभी सम्भव है, जबकि विचारों के आदान-प्रदान के रूप में इस्तेमाल की जा रही भाषा का मानकीकृत लेक्सिकन व व्याकरण हो।

भाषाओं का विकास मुख्य रूप से किसी एक बोली पर आधारित होकर होता है। लेकिन वह कई बोलियों के शब्द भण्डार और व्याकरणिक ढाँचों को ग्रहण करती है। हिन्दी के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। इसका विकास मुख्य रूप से खड़ी बोली को आधार बनाकर हुआ है। लेकिन इसने ब्रज, अवधी, मागधी, भोजपुरी, कन्नौजी, बुन्देली, कौरवी, अहीरी सभी से ग्रहण किया है। यही कारण है कि इन बोलियों को बोलने वाले सभी लोग हिन्दी को समझते हैं। यही बात हर भाषा पर लागू होती है। हर भाषा ही मुख्य रूप से किसी एक बोली पर निर्भर रहते हुए, कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन से बनती है। स्तालिन इसके बारे में लिखते हैं :

"दूसरी ओर स्थानीय ('क्षेत्रीय') उपभाषाएँ या बोलियाँ जनसमूह का हितसाधन करती हैं। इनका अपना व्याकरण-तंत्र और मूल शब्द-भण्डार होता है। इस दृष्टि से, कुछ क्षेत्रीय उपभाषाएँ, राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया के दौरान, राष्ट्रीय भाषाओं का आधर बन सकती हैं और स्वतंत्र राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रूसी भाषा की कुर्स्क ओरेल उपभाषा (कुर्स्क ओरेल 'स्पीच') के साथ ऐसा ही हुआ जो रूसी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। यही बात उक्रइनी भाषा की पोल्तावा कीव उपभाषा के साथ भी हुई जो उक्रइनी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। ऐसा ही दूसरी उपभाषाओं के साथ हुआ; उन्होंने अपना मूल स्वरूप खो दिया और उन्हीं में विलीन हो गयीं।"

स्तालिन की इस बात को हमारे भाषाई अस्मितावादी समझने में बुरी तरह से असफल हैं। इनकी समझ में नहीं आता कि भाषाएँ अपने आप में बोलियों की हत्याएँ करके नहीं बनती हैं, बल्कि मुख्य रूप से एक बोली पर निर्भर रहते हुए कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन से पैदा होती हैं। जब भाषा शासक वर्ग द्वारा अपने राजकीय प्रयोग के लिए अपनायी जाती है तो दूसरी भाषाओं के साथ अन्याय अवश्य हो सकता है। लेकिन यह भाषा द्वारा बोलियों की हत्या नहीं है। ऐसा मानना ही अस्मितावादी तर्क है।

राजस्थानी की बात बिल्कुल भिन्न है। राजस्थानी एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हो गयी। उसी प्रकार मैथिली भी एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हो गयी। इनकी हरियाणवी बोलियों, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मागधी से कोई तुलना ही नहीं है। इन अस्मितावादियों की मानसिक दरिद्रता यह है कि ये खड़ी बोली को ही हिन्दी समझते हैं और उसके अलावा अन्य सभी भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों को स्वतंत्र भाषा जिनका 'हिन्दी द्वारा दमन के कारण' विकास नहीं हो पाया। अब यह सभी भोजपुरी, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी आदि बोलने वालों का आह्वान कर रहे हैं कि वह इन सभी बोलियों का अलग-अलग भाषाओं के रूप में विकास करें। इन बोलियों की तुलना ये दागिस्तानी, उज़बेकी, तुर्कमानी, आदि भाषाओं से कर रहे हैं, जो कि अलग भाषाएँ थीं और ज़ारकालीन रूस में राष्ट्रीय दमन के कारण विकसित नहीं हो पायी थीं और समाजवादी सोवियत संघ में पुनः विकसित हुईं क्योंकि वहाँ सभी भाषाओं को बराबरी का दर्जा था। कहीं के ईंट और कहीं के रोड़े को हमारे भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों ने मनमाने ढंग से जोड़ दिया है।

असली बात यह है कि ये भाषाई अस्मितावादी और राष्ट्रवादी तीन बातें नहीं समझते हैं : पहला, भाषाएँ बोलियों की हत्याएँ करके नहीं पैदा होती हैं, बल्कि किसी एक बोली को मुख्य रूप से आधार बनाते हुए कई बोलियों से ग्रहण करके पैदा होती हैं, यानी कि उनके ऐतिहासिक व वैज्ञानिक अमूर्तन से पैदा होती हैं, हालाँकि राज्यसत्ता द्वारा अपनी राजकीय भाषा बनाये जाने पर शासक वर्ग इन्हें थोप सकता है और इस रूप में अन्य भाषाओं व बोलियों का दमन हो सकता है। दूसरी बात, जो बोलियाँ भाषा के रूप में ऐतिहासिक प्रक्रिया में (आम तौर पर, पूँजीवाद और एकीकृत बाज़ार व सामाजिक-आर्थिक अन्तर्क्रिया के एकीकृत नेटवर्क के विकसित होने की प्रक्रिया में) भाषाएँ नहीं बन पातीं, वे बोलियों के रूप में अस्तित्वमान रहती हैं और लोग सामाजिक जीवन में आम बातचीत में उनका इस्तेमाल भी जारी रखते हैं। तीसरी बात, इन सभी बोलियों को भाषा के रूप में विकसित करने की ज़िद एक अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अस्मितावादी और रूमानी नज़रिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया स्वतः किसी बोली को भाषा का मुख्य आधार बनाने के लिए चुन लेती है। आम तौर पर, यह वह बोली होती है जो बहुसंख्यक आबादी द्वारा बोली जाती है और मानकीकरण के लिए अपेक्षाकृत रूप से ज़्यादा उपयुक्त होती है। सभी बोलियाँ ऐतिहासिक तौर पर एकदम एकसमान विकसित नहीं होती हैं। ऐसा सम्भव भी नहीं है।

ये भाषाई अस्मितावादी कह रहे हैं कि हमने भाषा को कभी साम्राज्यवादी भाषा नहीं कहा। लेकिन इनके ही एक साथी ने अपनी एक टिप्पणी में "साम्राज्यवादी भाषा, साम्राज्यवादी संस्कृति और साम्राज्यवादी सभ्यता" की स्पष्ट शब्दों में बात की है। **अब ये अपनी बात से भाग रहे हैं क्योंकि इनके भी समझ में आ गया है कि ऐसी बात न्गूगी पर भी थोप पाना मुश्किल है।**

असल बात यह है कि लाख प्रयासों के बावजूद ये हिन्दी पट्टी की सभी बोलियों के अस्मितावादियों को एकजुट नहीं कर पा रहे हैं। ये प्रयास भी करें तो उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में इनकी लाइन की बात कोई नहीं सुनने वाला, हालाँकि अपने जैसे ही कुछ अस्मितावादी इन्हें ज़रूर मिल जायेंगे। उस वैज्ञानिक बात को जनता व्यावहारिक तौर पर समझती है, जिसे सैद्धान्तिक तौर पर इनका अस्मितावादी मन समझ नहीं पा रहा है।

इन्होंने 1947 में सिर्फ़ पंजाब के साथ हुए अन्याय की बात फिर से करके अपने राष्ट्रवादी विचलन को फिर से नंगा कर ही दिया। हम पहले ही लिख चुके हैं कि कोई कम्युनिस्ट 1947 के विभाजन को केवल पंजाब के साथ हुई त्रासदी के रूप में नहीं देखता बल्कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के साथ हुई त्रासदी के रूप में देखता है। उसी प्रकार इन्होंने 1966 के भाषाई बँटवारे को भी पंजाब के साथ दोबारा अन्याय बताकर अपने बिग नेशन शॉविनिज़्म को भी फिर से ज़ाहिर कर दिया है। हम इन्तज़ार कर रहे हैं कि इस माँग को ये उन प्रदेशों में भी जाकर अभियान चलाकर उठायें जिन प्रदेशों के कई ज़िलों को पंजाब में शामिल करने की ये माँग कर रहे हैं। वहाँ की जनता स्वयं ही इन्हें जवाब दे देगी। हमने पहले भी लिखा है कि ऐसे मसलों का सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के लिए कोई अर्थ और प्रासंगिकता नहीं है, न ही जनता यह माँग उठा रही है और न ही इसे लेकर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन है। ऐसी बात को पंजाब के भीतर एक छोटी-सी आबादी में अन्धराष्ट्रवाद पैदा करने के लिए तो इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन हिमाचल प्रदेश और हरियाणा में इस पर कोई कान भी नहीं देगा। उल्टे यह इन तीनों ही राज्यों की जनता के बीच दरारें ज़रूर पैदा कर सकता है, जिसका इस्तेमाल फ़िरकापरस्त पूँजीवादी ताक़तें ही करेंगी। वास्तव में, यह एक ग़ैर-सर्वहारा और प्रतिक्रियावादी एजेण्डा है।

लुब्बेलुबाब यह कि इनके पास कहने के लिए कुछ भी नया नहीं है। और जो पुराना है वह अस्मितावादी और अन्धराष्ट्रवादी बकवासों से भरा हुआ है। और ऐसे कतिपय कॉमरेडों को इतिहास और व्यवहार ही सिखा देगा कि ऐसी कार्यदिशा के नतीजे विनाशकारी ही हो सकते हैं।

●

भाषाई अस्मितावादियों से न्गूगी वा थ्योंगो को बचाओ!

(पेज 74 से जारी)

और अन्य यूरोपीय भाषाओं को उस पदानुक्रम में ऊपर रख दिया जाता है।

"अगर आप पदानुक्रम को ख़त्म कर दें और उसकी जगह एक नेटवर्क स्थापित कर दें, तो विभिन्न भाषाओं में निहित संस्कृतियाँ ऑक्सीज़न पैदा करती हैं। वे एक-दूसरे को उर्वर बनाती हैं। संस्कृतियाँ एक दूसरे में जीवन फूँकती हैं। हर संस्कृति को अन्य संस्कृतियों का अनुमोदन करते हुए पढ़ाया जाना चाहिए।" (न्गूगी वा थ्योंगो, तनुज राउत से साक्षात्कार में)

अब ज़रा हमारे राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई अस्मितावाद से पीड़ित कतिपय कॉमरेडों की सोच से न्गूगी की सोच की तुलना करिए। वैसे तो न्गूगी भी एक रैडिकल जनपक्षधर बुद्धिजीवी हैं, कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं और भाषा के सवाल पर उनके सभी विचार अनालोचनात्मक तौर पर स्वीकारे नहीं जा सकते हैं। लेकिन न्गूगी के विचारों का जो अर्थ ये भाषाई अस्मितावादी ज़बरन निकालने में लगे हैं, वह न्गूगी के साथ सरासर ज़्यादती है। ज़रा देखें और न्गूगी के विचारों से तुलना करें। ये लोग तो एक प्रोफ़ेसर द्वारा पंजाब में पंजाबी की "सरदारी" स्थापित करने की सोच, वहाँ केवल पंजाबी भाषा में ही शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज का समर्थन करते हैं! वे तो हिन्दी को साम्राज्यवादी और हत्यारी भाषा क़रार देते हैं! पंजाब के प्रवासी मज़दूरों और उनके बच्चों पर पंजाबी थोपना उनके अनुसार सही है! उनके बच्चों को पंजाबी को मातृभाषा मानने की तख्तियाँ पकड़ाना और जो अन्य भाषाभाषी हैं, लेकिन पंजाब में जन्मे हैं, उनके लिए पंजाबी को मातृभाषा क़रार देने को वे पंजाबी को थोपना नहीं मानते हैं! ज़रा फ़र्ज़ करें कि जो पंजाबीभाषी हरियाणा, उत्तर प्रदेश या बिहार में जन्मे हैं, उनके बारे में भी कहा जाये कि उनकी मातृभाषा पंजाबी नहीं बल्कि हिन्दी होनी चाहिए, तो इन भाषाई अस्मितावादियों की क्या प्रतिक्रिया होगी?

इनके पास कोई तर्क नहीं है। तर्क की जगह इन्होंने भावनाओं को रख दिया है। ये भावनाएँ भाषाई अस्मितावादी और राष्ट्रवादी भावनाएँ हैं। इसी ज़मीन से इनका सारा कुतर्क पैदा होता है, इसी से इनके सवाल पैदा होते हैं। लेकिन ये किसी सवाल का जवाब नहीं देना चाहते हैं। इनसे हमने जितने सवाल पूछे या तो उन पर इन्हें सनाका मार गया है या ये गोलमाल कर रहे हैं। इनके तमाम प्रश्नों का हमने विस्तार से उत्तर दिया, उन उत्तरों पर भी इनका कोई उत्तर नहीं है। इनके पास बस एक ही चीज़ बची है : राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी ज़मीन से भावनाओं को उभारना। ये उभर भी गयीं तो इसका नतीजा भविष्य में विनाशकारी ही होने वाला है। हम उम्मीद करते हैं कि इन्हें सद्बुद्धि आये।

●

असम में एनआरसी पर 'ललकार' के भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों की ग़लत अवस्थिति पर 'आह्वान' की ओर से 14 दिसम्बर 2019 को डाली गयी टिप्पणी

● **सम्पादक मण्डल**

आरएसएस के पुराने एजेण्डा को आगे बढ़ाते हुए केन्द्र की भाजपा सरकार ने एनआरसी और फिर नागरिकता संशोधन विधेयक (कैब) के ज़रिये जो ख़तरनाक खेल खेला है उसने देश के कई हिस्सों को अभी से आग की लपटों में झोंक दिया है। जहाँ देशभर में आम तौर पर इस विधेयक के ज़रिये मुसलमानों को निशाना बनाये जाने के षड्यंत्र और धर्म के आधार पर नागरिकता का फ़ैसला करने की साम्प्रदायिक कुटिल चाल का विरोध हो रहा है, वहीं असम में इस विरोध की एक अलग ज़मीन है। हालाँकि वहाँ भी काफ़ी लोग सेकुलर आधार पर इसके विरोध में हैं लेकिन बड़े पैमाने पर जो उग्र विरोध सामने आ रहा है वह जिस ज़मीन से हो रहा है उसके अपने ख़तरे हैं।

इस फ़र्क़ को समझने में कई प्रबुद्ध और प्रगतिशील लोगों से भी ग़लती हो रही है। मगर हैरत की बात तो यह है कि अपने को वाम क्रान्तिकारी कहने वाले कुछ लोग भी न सिर्फ़ असम में हो रहे कैब के विरोध के पीछे की राजनीति को समझ नहीं रहे बल्कि भाषाई अस्मितावाद और अन्धराष्ट्रवाद के अपने चश्मे से देखकर उसकी भी घोर अनर्थकारी व्याख्या पेश कर रहे हैं। वैसे, इसमें ज़्यादा हैरत की बात भी नहीं है। पिछले डेढ़ वर्षों के दौरान इनका भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रवादी भटकाव जिस दिशा में बढ़ता रहा है उसे यहीं तक जाना था। दूसरे, ये भी वाम आन्दोलन के अनेक हलक़ों में व्याप्त इस बीमारी से बुरी तरह ग्रस्त हैं जिसके चलते लोग इतिहास, राजनीति, भाषा, संस्कृति आदि की अधकचरी जानकारी लिये हुए हर बात पर ज्ञान बघारते रहते हैं, बिना यह समझे कि इसकी दूरगामी परिणतियाँ कितनी भयंकर होंगी।

असम की तमाम क्षेत्रीय अस्मितावादी पार्टियों को सिर्फ़ कैब से परेशानी है। एनआरसी से उन्हें कोई समस्या नहीं बल्कि बहुतेरे तो एनआरसी के समर्थक हैं। कैब के उनके विरोध का कारण बंगलाभाषियों के विरुद्ध नफ़रत है जिसे लम्बे समय से असम में भड़काया जाता रहा है। पहले बंगला विरोधी नफ़रत को भड़काकर कांग्रेस असम में अपनी राजनीति की रोटियाँ सेंकती रही और तमाम असमिया अस्मितावादी व उग्रवादी संगठनों को हिंसा की खुली छूट देकर अपनी गोटियाँ लाल करती रही। बाद में उन्हीं संगठनों का आरएसएस और भाजपा के साथ गठजोड़ हो गया क्योंकि ये उनके अन्धराष्ट्रवादी एजेण्डा को ज़्यादा खुलकर आगे बढ़ा सकते थे।

नागरिकता संशोधन विधेयक से असमिया अस्मितावादी संगठन इसलिए नाराज़ हैं क्योंकि यह धर्म के आधार पर बंगालियों और अन्य प्रवासियों के सिर्फ़ एक धार्मिक समुदाय, यानी मुसलमानों को बाहर करने की बात करता है और हिन्दुओं को नागरिकता देने की बात करता है, जबकि ये असमिया अस्मितावादी, हिन्दू और मुसलमान सभी बंगालियों और प्रवासियों से समान भाव से नफ़रत करते हैं। इन्हें एनआरसी से कोई दिक़्क़त नहीं है, इनका सिर्फ़ एक ही एजेण्डा है कि पिछले 100-150 साल से असम में रह रहे, खेती और मज़दूरी कर रहे बंगालियों को (चाहे हिन्दू हों या मुस्लिम) असम से बाहर निकाल दिया जाये।

सबसे पहले इतिहास के कुछ तथ्यों को जान लिया जाये। असम में रह रहे "बाहरी" लोग कोई वहाँ जाकर क़ब्ज़ा करके बस जाने वाले उपनिवेशवादी नहीं हैं, जैसाकि असमिया जातीयतावादी (राष्ट्रवादी) उन्हें पेश करते हैं। और इन लोगों में केवल बंगाली ही नहीं हैं। इनमें बड़ी संख्या में गोरखा, बिहारी, नेपाली और संथाली लोग भी हैं। इन लोगों के असम में बसने का सिलसिला 19वीं सदी के तीसरे दशक से शुरू हुआ था जब पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी और फिर ब्रिटिश राज द्वारा बड़ी तादाद में मज़दूरों, क्लर्कों आदि को वहाँ अपना काम कराने के लिए ले जाया गया। उसी तरह जैसे बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के गिरमिटिया मज़दूरों को जमैका, दक्षिण अफ़्रीका या फिजी जैसे देशों में ले जाया गया था। इसके बाद बंगलादेश (1971 से पहले पूर्वी पाकिस्तान) से दो बार शरणार्थियों का आना हुआ – पहले बँटवारे के बाद और फिर बंगलादेश युद्ध के बाद। इसके अलावा भी असम के चाय बाग़ानों, लकड़ी और अन्य उद्योग-व्यापार में काम करने के लिए देश के दूसरे हिस्सों से ग़रीब मेहनतकश लोग वहाँ जाते रहे और बसते भी रहे हैं। बल्कि अगर बाहर से आकर क़ब्ज़ा करने वाले लोगों की संघ-भाजपा की परिभाषा (जिसे वे मुसलमानों और ईसाइयों पर लागू करते हैं) के हिसाब से देखा जाये, तो वास्तव में "बाहरी" ताई अहोम लोग ही कहलायेंगे जो 13वीं सदी में बर्मा से आकर असम में बसे थे!

यह सच है कि अंग्रेज़ नौकरशाही के तमाम कामों को करवाने के लिए भी बंगाली पढ़ी-लिखी आबादी में से लोगों को लेकर गये थे क्योंकि असम के लोगों में उन्हें अपने काम लायक़ शिक्षित लोग बहुत कम मिलते थे। इसी वजह से असम की नौकरशाही में आज़ादी के बाद भी काफ़ी समय तक बंगाली लोग बड़ी तादाद में बने रहे और पूरे बंगाली समुदाय के विरुद्ध नफ़रत भड़काने में इस

बात का इस्तेमाल किया जाता रहा।

मगर यह भी सच्चाई है कि असम में प्रवासियों की बहुसंख्यक आबादी बेहद ग़रीब और मेहनतकश लोगों की है जो पीढ़ियों से वहाँ रह रही है। जनता के विभिन्न तबक़ों के बीच सांस्कृतिक, भाषाई अन्तरों आदि को लेकर अन्तरविरोध प्रायः होते ही हैं जिन्हें कोई जनपक्षधर सत्ता दुश्मनाना अन्तरविरोधों में बदले बिना हल करने के क़दम उठाती है। मगर असम में प्रवासी और ग़ैर-असमिया लोगों के साथ असमिया लोगों के अन्तरविरोधों को भारतीय शासक वर्गों और फ़िरकापरस्त असमिया बुर्जुआ राष्ट्रवादी ताक़तों ने अपने हित में भड़काया और उन्हें ऐसे शत्रुतापूर्ण विरोध में बदल दिया जिसके चलते लगी आग अब उनसे भी नहीं सँभल रही है।

पूँजीवाद असमान विकास के ज़रिये इस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को लगातार पैदा करता है जिसके कारण पूँजी और श्रम की आवाजाही और प्रवास एक अवश्यम्भावी परिघटना बन जाती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता और तमाम बुर्जुआ दल राष्ट्रवाद और अस्मितावाद की ज़मीन पर खड़े होकर अपने राजनीतिक एजेण्डा को पूरा करने के लिए इसका फ़ायदा उठाते हैं। इस मसले को सर्वहारा वर्ग के नज़रिये से देखने के बजाय बुर्जुआ उपराष्ट्रवाद (sub-national chauvinism), अस्मितावाद और मूलनिवासीवाद के प्रतिक्रियावादी नारे के साथ सुर में सुर मिलाने वाले लोग किस मुँह से अपने को वामपन्थी या क्रान्तिकारी कहते हैं?

हर समस्या का कारण भाषाई आधार पर राज्यों का सही पुर्नगठन न होने को बताने के अन्धे जुनून में इन भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों ने असमिया राष्ट्रवादियों को भी धर्मनिरपेक्ष होने का सर्टिफ़िकेट जारी करते हुए कह डाला है कि वह आन्दोलन केवल असमिया पहचान के लिए था और उसमें कोई साम्प्रदायिक मसला नहीं था! अधजल गगरी छलकाने वाले इन नौबढ़ क्रान्तिकारियों से पूछा जाना चाहिए कि भारतीय इतिहास का सबसे वीभत्स साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड – नेल्ली जनसंहार – किन ताक़तों ने अंजाम दिया था, जब 1983 में मात्र 6 घण्टों में 14 गाँवों के 2200 से भी ज़्यादा मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया गया था! हर बात को भाषाई पहचान के अपने चश्मे से देखने वाले इन लोगों से पूछा जाना चाहिए कि उल्फ़ा के अन्धराष्ट्रवाद के बारे में उनके क्या विचार हैं? असमिया राष्ट्रवाद के नारे से शुरुआत करने वाले इस संगठन का बाद के दौर में जिस जुनूनी क़िस्म के अन्धराष्ट्रवाद में पतन हुआ उसने असम में रोज़ी-रोटी कमाने के लिए गये बिहार, उत्तरप्रदेश आदि के ग़रीब मज़दूरों को ही असमिया पहचान के लिए ख़तरा मानकर उनकी हत्या करना शुरू कर दिया था।

असम की आबादी के क़रीब 13 प्रतिशत आदिवासी समुदायों के प्रति असमिया राष्ट्रवादियों की नफ़रत और उनके साथ होने वाले भेदभाव पर भी इनकी नज़र नहीं जाती। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति कुछ वर्ष पहले की उस घटना को गहरी नफ़रत के साथ याद किये बिना नहीं रह सकता जब अपने अधिकारों के लिए गुवाहाटी की सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे आदिवासियों पर असमिया राष्ट्रवादियों द्वारा उकसाई भीड़ ने हमला किया था और एक आदिवासी युवती को निर्वस्त्र करके घुमाया था।

असम की बराक घाटी के तीन ज़िलों में बंगलाभाषियों की बहुसंख्या है। पूरे असम में असमिया को एकमात्र सरकारी भाषा बनाये जाने के सरकारी क़दम के विरुद्ध और बंगला को आधिकारिक भाषा की मान्यता दिलाने के लिए 1960-61 में व्यापक आन्दोलन हुआ जिसमें पुलिस की गोली से 11 लोग मारे गये थे। कोई भी इन्साफ़पसन्द व्यक्ति इस बात का समर्थन करेगा कि हर जगह पर आबादी के सभी समुदायों को अपनी भाषा में सभी काम-काज, शिक्षा आदि की सुविधाएँ बराबरी से मिलनी चाहिए। अगर किसी जगह पर किसी भाषाई समुदाय की बहुसंख्या है तब तो निश्चय ही उसकी भाषा को भी आधिकारिक भाषा की मान्यता मिलनी चाहिए। कोई एक ही भाषा आधिकारिक भाषा हो, यह माँग ही ग़लत है। शासक वर्ग लोगों को आपस में लड़ाये रखने के लिए अक्सर ऐसी चालें चलते रहते हैं। इसके बदले सही जनपक्षधर माँग यही हो सकती है कि उस क्षेत्र में रहने वाले सभी भाषाई समुदायों को अपनी भाषा में समस्त अधिकार मिलने चाहिए। इसकी अनदेखी करके केवल राज्य की बहुसंख्यक आबादी की भाषा की चिन्ता में दुबले हुए जाना इन भाषाई अस्मितावादियों की अपनी राजनीति का एक स्वाभाविक विस्तार है।

असम में असमिया लोगों के अल्पसंख्यक हो जाने और उनकी पहचान खो जाने को लेकर ये जिस तरह से आहें भर रहे हैं और चिन्तातुर हुए जा रहे हैं वह कुछ उसी तरह का है जैसे संघ और भाजपा भारत में हिन्दुओं के अल्पसंख्यक हो जाने और पहचान खो जाने का शोर मचाते हैं। पहली बात तो अगर असम में रह रहे सभी प्रवासियों को नागरिकता दे दी गयी तो वहाँ की डेमोग्राफ़ी में कोई बहुत बड़ा बदलाव नहीं आने वाला है क्योंकि ये लोग तो पहले से ही वहाँ रह रहे हैं। एनआरसी की बरसों चली क़वायद के बाद भी कुल 19 लाख लोगों के नाम ही रजिस्टर में दर्ज नहीं किये गये थे। इनमें भी भारी घपला था और यहाँ तक कि एक ही परिवार के कुछ सदस्यों के नाम शामिल थे तो कुछ के बाहर कर दिये गये थे। दूसरे, असम की पहचान केवल असमिया समुदाय के लोगों से ही नहीं है। वहाँ रहने वाली आदिवासी आबादी और कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहे बंगाली और अन्य प्रवासी समुदायों की भाषा-संस्कृति भी इस पहचान का एक अभिन्न हिस्सा है।

असम में कैब के विरोध पर इन लोगों के स्टैण्ड से इनके भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रवादी भटकाव की कलई पूरी तरह खुल गयी है। इनकी राजनीति का समर्थन करने वालों को अब ज़रा ठहरकर सोचना चाहिए कि यह भटकाव किस ख़तरनाक दिशा में लेकर जायेगा।

● ● ●

असम में आप्रवासन : क्या यह वाक़ई एक विकराल समस्या है?

● आनन्द

प्रसिद्ध असमिया गीतकार, संगीतकार, कवि और गायक भूपेन हज़ारिका का एक शानदार गीत है जिसके बोल हैं 'ओ बिदेसी बन्धू'। इस गीत में असम में रहने वाले प्रवासियों की व्यथा के प्रति एक असमिया की गहरी संवेदना प्रकट की गयी है। लेकिन अफ़सोस की बात है कि असम की मुख्यधारा की लोककला और संस्कृति में प्रवासियों के प्रति संवेदना जताने वाली ऐसी मार्मिक रचनाएँ अपवाद हैं। इसकी वजह यह है कि असम के समाज की मुख्यधारा के बड़े हिस्से में प्रवासियों के प्रति नफ़रत की भावना गहरी जड़ें जमा चुकी है। असम के हालिया इतिहास के पन्ने प्रवासियों के ख़ून के छींटों से सराबोर हैं। 37 साल पहले हुए नेल्ली नरसंहार को पूरे भारत में भले ही भुला दिया गया हो, लेकिन वहाँ के प्रवासियों के लिए वह कभी न भूलने वाली काली रात के समान है जब नौगाँव ज़िले के 14 गाँवों में रहने वाले 4 हज़ार से ज़्यादा लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया था जिसमें अधिकांश संख्या स्त्रियों और बच्चों की थी। उसके बाद से असम में आप्रवासन को एक विकराल समस्या के रूप में प्रस्तुत करके क़िस्म-क़िस्म की अन्धराष्ट्रवादी और फ़िरकापरस्त ताक़तें फल-फूल रही हैं। हाल के वर्षों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बढ़ते आधार से आप्रवासन के मुद्दे का भयंकर रूप से साम्पद्रायिकीकरण हुआ है।

इन दिनों नागरिकता संशोधन विधेयक (सीएए) के ख़िलाफ़ असम में भी ज़बर्दस्त विरोध हो रहा है। लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि असम के प्रदर्शनों में जो धारा प्रभावी है वह सीएए के साम्प्रदायिक व ग़ैर-जनवादी स्वरूप की वजह से उसका विरोध नहीं कर रही है। यह विरोध इस आधार पर नहीं हो रहा है कि सीएए में मुस्लिमों को नहीं शामिल किया गया है, बल्कि इस आधार पर हो रहा है कि सीएए असम समझौते के ख़िलाफ़ जाता है जिसमें असम में 1971 के बाद आये सभी प्रवासियों को खदेड़ने की बात कही गयी थी। हालाँकि असम में एक प्रगतिशील धारा भी है जो सीएए का विरोध उसके साम्प्रदायिक चरित्र की वजह से कर रही है और इसे एक फ़ासीवादी हमला मान रही है, लेकिन यह धारा बहुत मुखर नहीं है। ऐसे में असम में चल रहे इन विरोध-प्रदर्शनों का अनालोचनात्मक महिमामण्डन करने की बजाय इसके पीछे की राजनीति और विचार को विस्तार से समझने की ज़रूरत है और उसके लिए हमें असम में आप्रवासन के इतिहास को समझना होगा।

असम के समाज में टकराव और आप्रवासन का इतिहास

लगभग सवा तीन करोड़ की आबादी वाला असम तीन भौगोलिक क्षेत्रों – उत्तर में ब्रह्मपुत्र घाटी, दक्षिण में बराक घाटी और कार्बी आंगलोंग व दीमा हसाओ नामक पहाड़ी क्षेत्र – में बँटा है। असम के समाज में अहोम लोग प्रभुत्वशाली स्थान पर हैं। अहोमों के अलावा तमाम नृजातीय और कबीलाई समूह भी असम के विभिन्न क्षेत्रों में रहते हैं, मसलन बोडो, कार्बी, लालूंग, सुतिया, मरान, मटक, दिमासा, राभा, तिवा, मिसिंग, ताई, कुकी इत्यादि। असम में कई नृजातीय समूहों को प्रशासनिक स्वायत्तता मिलने की वजह से उनके भीतर से भी प्रभुत्वशाली शासक वर्ग पैदा हुआ है। इसके अलावा असम में प्रवासी आबादी भी अच्छी-ख़ासी तादाद में है जिसमें अधिकांश लोग पूर्वी बंगाल (मौजूदा बांग्लादेश) से पलायन करके आये हैं। विभिन्न नृजातीय और भाषायी समुदायों के मिश्रण से जहाँ एक ओर असमिया राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है वहीं दूसरी ओर असम की इस जटिल सामाजिक संरचना में

कई क़िस्म के टकराव मौजूद हैं, मसलन असमिया और बंगाली भाषा बोलने वालों के बीच का टकराव, विभिन्न नृजातीय एवं कबीलियाई समूहों के बीच का टकराव और साम्प्रदायिक टकराव। लेकिन स्थानीय निवासियों और प्रवासियों के बीच का टकराव सबसे हिंसक रूप अख़्तियार करता आया है। स्थानीय निवासियों और प्रवासियों के बीच के इस टकराव के बढ़ते साम्प्रदायिकीकरण की वजह से प्रवासी बंगाली मुस्लिमों की ज़िन्दगी सबसे ज़्यादा जोखिमभरी हो गयी है। वैसे मूलनिवासी और बाहरी के इस टकराव में ग़ौर करने वाली बात यह है कि आज असमिया राष्ट्रवाद का झण्डाबरदार बने अहोम लोग स्वयं असम के मूलनिवासी नहीं हैं क्योंकि वे मूलतः चीन के येनान प्रान्त के निवासी थे जहाँ से वे पलायन करके पहले बर्मा (वर्तमान म्यांमार) गये और 13वीं सदी में बर्मा से पलायन करके असम में आये थे।

असम में पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) से आप्रवासन का एक लम्बा इतिहास रहा है। ग़ौरतलब है कि असम और वर्तमान बांग्लादेश के बीच 267 किलोमीटर लम्बी सरहद है जो असम में आप्रवासन को आसान बनाती है। पूर्वी बंगाल के अलावा असम में बिहार, पश्चिम बंगाल और नेपाल से आप्रवासन होता आया है। आधुनिक काल में असम में आप्रवासन की शुरुआत 1826 में असम पर ब्रिटिश क़ब्ज़े के बाद शुरू हुई। सबसे पहले असम के चाय बग़ानों में काम करने के लिए बिहार से मज़दूर ले जाये गये क्योंकि स्थानीय असमिया भूस्वामी चाय बग़ानों में काम करने को तैयार नहीं थे। उसके बाद अंग्रेज़ प्रशासनिक व न्यायिक तंत्र में क्लर्क, जज और कलेक्टर का काम करने के लिए पढ़े-लिखे बंगाली हिन्दुओं को असम में लाये क्योंकि स्थानीय असमिया आबादी में ये हुनर नहीं थे। 20वीं सदी की शुरुआत तक असम में लगभग सभी डॉक्टर, वकील, शिक्षक और पत्रकार प्रवासी बंगाली हिन्दू थे। इन प्रवासियों के दबदबे की वजह से 1947 तक असम की आधिकारिक भाषा असमिया नहीं बल्कि बंगाली थी क्योंकि प्रवासियों ने अंग्रेज़ों को यह यक़ीन दिला दिया था कि असमिया बंगाली की ही बोली है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में असम में पूर्वी बंगाल से मुस्लिम किसानों का आप्रवासन शुरू हुआ। बंगाली मुस्लिम किसानों की पहली खेप 1914 में ब्रह्मपुत्र के मैदानों में ख़ाली पड़ी ज़मीन पर खेती करने के लिए आयी। उसके बाद पूरे औपनिवेशिक काल में बंगाली मुस्लिमों का आप्रवासन जारी रहा। 1942 में सादुल्ला के नेतृत्व वाली मुस्लिम लीग सरकार ने भारी संख्या में बंगाली मुस्लिमों के असम में आप्रवासन को प्रोत्साहित किया। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में हुए इस आप्रवासन से असम की जनसांख्यिकी में भारी बदलाव हुआ। 1911 में असम की आबादी में मुस्लिमों का हिस्सा 16 प्रतिशत था जो 1931 में 23 प्रतिशत और 1951 में 25 प्रतिशत हो गया। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह है कि यह आप्रवासन भारत के विभाजन के पहले ब्रिटिश राज में हुआ था। 1947 में भारत के विभाजन के समय भी बड़ी संख्या में बंगाली हिन्दुओं ने पूर्वी बंगाल से असम में पलायन किया। उसके बाद 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बांग्लादेश के जन्म के समय भी बड़े पैमाने पर असम में आप्रवासन हुआ। असम में बंगाली प्रवासियों के ख़िलाफ़ पूर्वाग्रह और विद्वेष की भावना पहले से ही थी, 1970 के दशक के अन्त तक आते-आते वहाँ ऑल असम स्टूडेण्ट्स यूनियन (आसू) जैसे क्षेत्रीय संगठनों के नेतृत्व में प्रवासियों को वोटिंग का अधिकार देने के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खड़ा होता है। असम आन्दोलन के नाम से जाने जाने वाले इस आन्दोलन ने प्रवासियों के प्रति नफ़रत को अभूतपूर्व स्तर तक बढ़ाने का काम किया जिसकी परिणति नेल्ली के भीषण नरसंहार में होती है। 1983 में असम समझौता होता है जिसके तहत 1971 के बाद आये प्रवासियों की शिनाख़्त करके उनको देश से निकालने की बात कही गयी।

असम में अवैध आप्रवासन की वास्तविक स्थिति

असम की राजनीति में प्रवासी विरोधी एजेण्डे को हवा देने के लिए प्रवासियों की संख्या को बढ़ाचढ़ाकर पेश किया जाता रहा है। संघ परिवार ने इस एजेण्डे को साम्प्रदायिक रंग देते हुए पूरे देश में फैला दिया है। पिछले साल लोकसभा चुनाव के पहले अमित शाह ने एक चुनावी सभा को सम्बोधित करते हुए अवैध प्रवासियों को घुसपैठिया क़रार देते हुए उनकी तुलना दीमक से की। एनआरसी की अन्तिम सूची प्रकाशित होने से पहले संघ परिवार यह दावा करता फिरता था कि असम में कम से कम 40 लाख घुसपैठिये हैं जिन्हें एक-एक करके खदेड़ा जायेगा। ग़ौरतलब है कि घुसपैठियों से उनका मतलब बंगाली मुस्लिमों से था क्योंकि बंगाली हिन्दुओं को वे घुसपैठिया नहीं बल्कि शरणार्थी समझते हैं। लेकिन एनआरसी की मनमानी और दोषपूर्ण प्रक्रिया के बावजूद अन्तिम सूची में 19 लाख लोगों का नाम नहीं आया जोकि 40 लाख के आधे से भी कम है। ग़ौरतलब है कि वास्तव में अवैध प्रवासियों की संख्या 19 लाख से बहुत कम होगी जिनमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जो कई पीढ़ियों से असम में रह रहे हैं। इन 19 लाख लोगों में भी 13 लाख से अधिक हिन्दू हैं। ज़ाहिर है कि संघ परिवार द्वारा घुसपैठियों की संख्या के बारे में फैलाये जा रहे झूठ को भाजपा सरकार द्वारा करायी गयी एनआरसी की प्रक्रिया ही बेनक़ाब कर देती है।

संघ परिवार की ही तरह असम में क्षेत्रीय कट्टरपन्थी राष्ट्रवादी ताक़तें और यहाँ तक कि नृजातीय समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाली ताक़तें भी सत्ता में बने रहने के लिए असम में प्रवासियों की संख्या को बढ़ाचढ़ाकर प्रस्तुत करके

उनका हौव्वा खड़ा करती आयी हैं। आज़ादी के बाद हुए पूँजीवादी विकास के तहत तमाम परियोजनाओं से बड़े पैमाने पर विस्थापित हुई आदिवासी आबादी भी अपनी तबाही के लिए प्रवासियों को ज़िम्मेदार मानने लगी है जिसकी वजह से प्रवासियों के जीवन का जोखिम बढ़ता जा रहा है।

सच तो यह है कि असम में रहने वाले अधिकांश प्रवासी 1971 से पहले पलायन करके आये थे। जनगणना के आँकड़े और कई स्वतंत्र अध्ययन भी यह साबित करते हैं कि असम सहित पूरे देश में घुसपैठियों की बाढ़ आ जाने की बात पूरी तरह से अफ़वाह है। 2001 की जनगणना में भारत में रहने वाले किन्तु देश से बाहर पैदा हुए लोगो की संख्या 62 लाख थी जो 2011 में घटकर 53 लाख रह गयी, यानी आप्रवासन दर बढ़ी नहीं है बल्कि 0.6 से घटकर 0.4 प्रतिशत रह गयी है। ग़ौरतलब है कि अमेरिका और पश्चिम यूरोप के मुल्क़ों में आप्रवासन दर 10-15 प्रतिशत है। जनगणना के आँकड़े यह भी दिखाते हैं कि बांग्लादेश से भारत में पलायन करने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ने की बजाय कम हो रही है। इसकी वजह यह है कि बांग्लादेश और नेपाल जैसे देशों से अब लोग भारत की बजाय खाड़ी के देशों और यूरोप के मुल्क़ों में जाना पसन्द कर रहे हैं।

क्या असम में आप्रवासन की वजह से वाक़ई असमिया संस्कृति और भाषा पर संकट आ गया है?

असम की क्षेत्रीय राष्ट्रवादी ताक़तों और नृजातीय समूहों के प्रतिनिधियों ने वहाँ के लोगों में यह भय पैदा कर दिया है कि असम में आप्रवासन की वजह से उनकी आजीविका के साथ ही साथ उनकी संस्कृति और भाषा पर संकट आ गया है। यह दावा भी ठोस यथार्थ से मेल नहीं खाता है। सच तो यह है कि असम में कई सदियों से हुए अप्रवासन की वजह से वहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास में मदद मिली है और इस प्रक्रिया में वहाँ की संस्कृति और भाषा भी समृद्ध हुई है।

असम में बंगाली प्रवासियों ने ब्रह्मपुत्र के मैदानों में चार-चपोरी नामक ख़ाली पड़े क्षेत्रों की ज़मीन पर खेती करनी शुरू की और खेती की बेहतर तकनीक विकसित की, उन्होंने असम में बहुफ़सली खेती की व्यवस्था भी शुरू की तथा फ़सलों की विविधता बढ़ायी। आदिवासियों द्वारा अपनायी जा रही झूम खेती के बरक्स प्रवासियों ने व्यवस्थित खेती की शुरुआत की जिससे कृषि की उत्पादकता में भारी बढ़ोत्तरी हुई। यह प्रवासियों द्वारा की गयी मेहनत का ही नतीजा था कि 1947 तक असम में धान की बेशी पैदावार हो गयी और कई नयी सब्ज़ियाँ और अन्य फ़सलें असम के कृषि उत्पादन और वहाँ के खानपान का हिस्सा बनीं। कृषि के अतिरिक्त अधिकांश प्रवासी बंगाली असम में असम की अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र में, मिसाल के लिए निर्माण मज़दूर, दिहाड़ी मज़दूर, कुली, लोडिंग-अनलोडिंग, रिक्शाचालक आदि का काम करते हैं। इस प्रकार औपचारिक क्षेत्र की नौकरियों में प्रवासी मज़दूरों की असम के स्थानीय लोगों से कोई प्रतिद्वन्द्वता नहीं है।

असम में भाषा का मामला पेचीदा है। वहाँ असमिया और बंगाली के अलावा विभिन्न आदिवासी और नृजातीय समूहों की अपनी अलग-अलग भाषाएँ हैं। जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, आज़ादी के पहले असम के मध्यवर्ग में बंगालियों के प्रभुत्व की वजह से वहाँ की आधिकारिक भाषा बंगाली थी। आज़ादी के बाद हुए आन्दोलनों के बाद असमिया को असम की आधिकारिक भाषा का दर्जा मिला, हालाँकि बराक घाटी में अभी भी आधिकारिक भाषा बंगाली ही है क्योंकि वहाँ बंगाली लोगों की बहुतायत है। ग़ौरतलब है कि 1960 के दशक में असमिया को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाने के लिए चले आन्दोलनों के चलते असम में प्रवासी बंगाली मुस्लिम तथा विभिन्न आदिवासी व नृजातीय समूह भी अपनी मातृभाषा असमिया बताने लगे, जबकि बंगाली हिन्दू उसके बाद भी अपनी मातृभाषा बंगाली बताते रहे। कई प्रेक्षकों ने यह दिखाया है कि 1980 के दशक में प्रवासी विरोधी आन्दोलन के शुरू होने के पहले असम में प्रवासी बंगाली मुस्लिम अपने बच्चों को असमिया माध्यम के स्कूलों में भेजते थे जबकि ख़ुद अहोम लोग अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलो में भेजते थे। ज़ाहिर है कि असम में बंगालियों का आप्रवासन अपने आप में असमिया भाषा के लिए ख़तरा नहीं पैदा कर रहा है। अगर हाल के वर्षों में असमिया भाषा बोलने वालों की संख्या में वृद्धि की रफ़्तार कम हुई है तो उसकी वजह यह है कि 1980 में प्रवासी-विरोधी आन्दोलन के बाद प्रवासी बंगाली मुस्लिम अपनी मातृभाषा असमिया की बजाय बंगाली बताने लगे। लगातार जारी उत्पीड़न और भेदभाव से तंग होकर हाल के वर्षों में बंगाली मुस्लिमों ने अपनी भाषा, पहचान और संस्कृति को पहले से कहीं ज़्यादा पुरज़ोर ढंग से 'एसर्ट' करना शुरू कर दिया। उन्होंने प्रतिरोध की कविता की एक मुहिम सी छेड़ दी है जिसे मिया कविता के नाम से जाना जाता है। इसी तरह असम के तमाम आदिवासी और नृजातीय समूह भी 1990 के दशक के बाद हुए शासकीय और प्रशासकीय विकेन्द्रीयकरण के दौर में अपनी मातृभाषा असमिया बोलना छोड़ चुके हैं। अगर असमिया संस्कृति और भाषा को वास्तव में किसी चीज़ से ख़तरा है तो वह पूँजीवादी विकास से पैदा हुई तबाही और सामाजिक बिखराव से ख़तरा है।

आप्रवासन के प्रति मज़दूर वर्गीय नज़रिया

असम में जिन प्रवासियों को विदेशी और घुसपैठिया कहकर प्रताड़ित करते हुए फ़ॉरेनर्स ट्रिब्यूनल के सामने पेश होने पर मजबूर किया जा रहा है वे बेहद ग़रीब और मेहनतकश लोग हैं। ऐसे में मज़दूर वर्ग से सरोकार रखने वाले किसी भी शख़्स की नैसर्गिक सहानुभूति इन मेहनतकशों के प्रति होगी।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षकों ने आप्रवासन की प्रगतिशील भूमिका को बार-बार रेखांकित किया है क्योंकि यह मज़दूरों के बीच स्थानीय संकीर्णताओं, राष्ट्रीय अवरोधों और पूर्वाग्रहों को तोड़कर सच्चे मायने में अन्तरराष्ट्रीयतावादी स्पिरिट पैदा करने में मदद करता है और इस प्रकार विश्व स्तर पर मज़दूर वर्ग की एकता को सुनिश्चित करता है। लेनिन ने आप्रवासन को पूँजीवाद के असमान विकास का नतीजा बताया था और कहा था कि ग़रीबी ही वह वजह है जो लोगों को अपनी मातृभूमि छोड़ने पर मजबूर करती है। उन्होंने 1913 में 'पूँजीवाद और मज़दूरों का आप्रवासन' नामक एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कहा था, "इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता है कि चरम ग़रीबी की वजह से ही लोग अपनी मातृभूमि छोड़ने को मजबूर होते हैं और यह भी निर्विवाद है कि पूँजीपति प्रवासी मज़दूरों का सबसे ज़्यादा बेशर्मी के साथ शोषण करता है। लेकिन केवल प्रतिक्रियावादी लोग ही राष्ट्रों के बीच होने वाले इस आप्रवासन के प्रगतिशील महत्व से से इन्कार कर सकते हैं। पूँजी के जुए से मुक्ति पूँजीवाद के अग्रिम विकास और उसपर आधारित वर्ग संघर्ष के बिना नामुमकिन है। और इस संघर्ष में ही पूँजीवाद दुनिया की मेहनतकश अवाम को क़रीब ला रहा है, स्थानीय जीवन की सड़ी-गली आदतों को तोड़ रहा है, राष्ट्रीय अवरोधों और पूर्वाग्रहों को तोड़ रहा है और अमेरिका, जर्मनी आदि के कारख़ानों में दुनिया के सभी मुल्क़ों के मज़दूरों को एकजुट कर रहा है।"

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि असम में प्रवासी लोगों की वजह से वहाँ की अर्थव्यवस्था और संस्कृति कमज़ोर नहीं हुई बल्कि सुदृढ़ और समृद्ध हुई है। ऐसे में हमें असम के क्षेत्रीय राष्ट्रवादियों और भारत के बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्रवासियों के ख़िलाफ़ की जाने वाली किसी भी कार्रवाई का पुरज़ोर विरोध करना चाहिए। असम की आम आबादी को यह समझाने की ज़रूरत है कि उनकी आजीविका और संस्कृति को ख़तरा प्रवासियों से नहीं बल्कि पूँजीवाद से है। इसलिए उन्हें शासक वर्गों के झाँसे में आने से बचना चाहिए और प्रवासियों के ख़िलाफ़ खड़ा होने की बजाय उनके साथ खड़ा होकर पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के संघर्ष में शामिल होना चाहिए। फ़िलहाल असम में जो लोग प्रवासी-विरोध की ज़मीन से सीएए का विरोध कर रहे हैं उन्हें यह बताने की ज़रूरत है कि नफ़रत की इस ज़मीन से विरोध का रास्ता हिंसा और नरसंहार की ओर जायेगा। सीएए का विरोध बेशक किया जाना चाहिए, लेकिन सेक्युलरिज़्म और जनवाद की ज़मीन पर खड़े होकर, जिसका मतलब होगा सीएए के साथ ही एनआरसी और एनपीआर का भी विरोध!

●

'मिया कविता' – प्रवासियों की प्रतिरोध कविता

मैं न तो चरुआ* हूँ, न ही पमुआ** हूँ,
मैं भी असमिया हूँ,
असम की ज़मीन और आबोहवा
का बराबरी का हक़दार हूँ।

* चरुआ – असम में चार इलाक़े में रहने वाले लोग
** पमुआ – बाहर से आकर बसने वाले

ये कविता मौलाना बन्दे अली ने 1939 में लिखी थी। हाल के वर्षों ऐसी कविताओं से प्रेरित होकर बंगाल से पलायन कर असम में बसने वाले मुस्लिमों ने प्रतिरोध कविताओं की एक मुहिम छेड़ी जिसने जल्द ही एक आन्दोलन की शक्ल अख़्तियार कर ली, जिसे 'मिया कविता' के नाम से जाना जाता है।

आज असम में CAB का विरोध कर रहे लोगों में बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो न सिर्फ़ ग़ैर-मुस्लिम प्रवासियों को नागरिकता देने का विरोध कर रहे हैं बल्कि वे सभी प्रवासियों का भी विरोध कर रहे हैं। इस विरोध में एक वर्गीय नफ़रत की अनदेखी नहीं की जा सकती है। यह वर्गीय नफ़रत असम के पढ़े-लिखे दायरे में 'मिया कविताओं' के प्रति तिरस्कार के रूप में भी सामने आयी थी जब कुछ 'मिया' कवियों पर एफ़आईआर दर्ज किया गया था और सोशल मीडिया पर उनकी ट्रोलिंग की गयी थी। मिया कविताओं में असम में रहने वाले बंगाली मूल के मुस्लिमों के दुख, दर्द और उत्पीड़न के साथ ही साथ उनकी मेहनतकश पृष्ठभूमि की भी झलक मिलती है। मिसाल के लिए यह कवितांश पढ़ें :

लिखो
मैं एक मिया हूँ
मैं बंजर पड़ी ज़मीनों और दलदलों को
हरे लहलहाते धान के खेतों में
बदलता हूँ
ताकि तुम खाना खा सको।

मैं ईंटें ढोता हूँ
तुम्हारी इमारतों की तामीर की ख़ातिर
तुम्हारे ऐशो-आराम के लिए
तुम्हारी गाड़ियाँ चलाता हूँ
तुम्हारी नालियाँ साफ़ करता हूँ
ताकि तुम तन्दरुस्त और सेहतमन्द
बने रह सको।

मैं दिन-रात तुम्हारी ख़िदमत में
खटता रहता हूँ
फिर भी तुम नाशाद हो, नाख़ुश हो!

●

सामयिकी

एनआरसी के ड्रैगन को समझिए! नाम में ही सब कुछ रखा है, लेकिन आपका नाम कहाँ है?

● **इस्लाम हुसैन**

आपके काग़ज़ों में दादा-दादी, नाना-नानी के नाम में थोड़ा-सा अन्तर या अलग नाम आपको यातनागृह में डाल देगा।

रमुवा और रामू ही राम सिंह या राम लाल/राम प्रसाद है, या रामलाल, फकीरे, फकीर चन्द्र/चन्द है यह आज आप नहीं जान सकते।

आप ऐसे ही हज़ारों, लाखों, करोड़ों रमुवा, पदुवा, धनुआ, नत्थू, छिद्दा पिद्दा, रमुली, जसुली, नथिया, बुंदिया, बुल्ले, कीकर, झोंटू, दुल्ला, गुल्ला, बेलू, को नहीं जानते।

आप जान ही नहीं सकते, क्योंकि ये प्राणी जिसके नाम चुनाव सूची या अन्य दस्तावेज़ों में जो दर्ज हैं, वह वो नहीं होते हैं जो नाम लिखे हैं, उनके नाम वो हैं जिसे भारत सरकार का चुनाव आयोग और सरकारी सिस्टम नहीं जानता। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसी ही दस्तावेज़ी भूलों व ग़लतियों के आधार पर नागरिकता संशोधन का भरतनाट्यम चलाया और दिखाया जा रहा है। जिसपर सब नाचने के लिए बाध्य किये जा रहे हैं। कुछ नाच रहे हैं कुछ नाचने के लिए तैयार है।

एनआरसी और नागरिकता के मुद्दे पर हो रहे हंगामें के बीच अनेक विचार आते रहे, एक विचार यह था कि क्या होगा देख लेंगे, लेकिन जब अगली पीढ़ी का ख़्याल आता तो उलझन होती, काग़ज़-वाग़ज़ देखने का अब मन नहीं करता।

इस विवाद के बीच पहले मेरा एक बच्चा, जो आज की परिभाषा में एक विख्यात विश्व विद्यालय में (ग्रेजुएशन के बाद आगे एमटेक) उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहा है, वह आया हुआ था, और नागरिकता क़ानून को लेकर बहुत ग़ुस्से में था, आमतौर पर वह अपनी पढ़ाई के अलावा मामलों में ख़ामोश रहता है, लेकिन इस मामले को लेकर बेचैन था।

बातचीत में उसने बताया कि आधार कार्ड में ग़लत नामों का इन्दराज का रेट 5-8% है, और चूंकि आधार को नागरिकों की पहचान से जोड़ने का प्रोपगेण्डा ख़ूब हुआ था इसलिए अधिकांश नागरिकों ने अपने आधार कार्ड बनवा लिये हैं, यदि उसमें उनके नाम ग़लत इन्दराज हुए होंगे तो वो कहाँ जायेंगे – डिटेंशन सेन्टर, अभी तक जो असम का अनुभव है उसको देखकर यही लगता है, जहाँ बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिनके डाक्यूमेन्ट्स के नाम में अन्तर था।

मैं एकदम चकरा गया, और मुझे 25-30 साल पहले वोटर सूची और वोटर आईडी में दर्ज हुए नाम का प्रकरण याद आ गया। लेख के आरम्भ में मेरे सवाल का यही आधार है।

यदि आप के पास 25-30 साल पहले वाली वोटर सूची होती तो आप किसी भी मुहल्ले में मकान नम्बर मिलने के बाद भी उस व्यक्ति को नहीं ढूँढ़ पाते, मकान में पहुँच भी जाते तो आपको अपने पर और सरकारी अमले की नालायक़ी पर खीज और ग़ुस्सा आता।

मेरे बच्चे ने तो आधारकार्ड की ग़लती होने का औसत 8% बताया, मगर वोटर आईडी में यह औसत इससे कहीं अधिक है।

मैने अपने शहर की मिलीजुली आबादी के एक मतदान केन्द्र की लगभग 2100 मतदाता सूची का जो अवलोकन किया उसे देखकर यही लगता है कि एनआरसी लगने पर देश के नागरिक एक बड़े संकट में फँसने वाले हैं। इसमें मतदाताओं के नाम में ग़लती का प्रतिशत 14-18% है।

तो कुछ देशप्रेमी जो लगातार राष्ट्रीय स्तर पर एनआरसी का समर्थन कर रहे हैं उन्हें बताते चलें कि असम का अनुभव बताता है कि वहाँ 3 करोड़ आबादी में से 40 लाख लोग नागरिकता रजिस्टर से बाहर हो गये थे, पुनः वेरीफ़िकेशन में जिनकी संख्या बाद में 19 लाख रह गयी थी। (इस अवधि में लोगों को कितनी मानसिक पीड़ा होगी इसकी कल्पना करना मुश्किल है।)

इस आधार पर पूरे देश की कम से कम 20 प्रतिशत जनसंख्या (अर्थात 20-30 करोड़) बुरी तरह पीड़ित होगी। जिसमें सभी धर्म और जाति के लोग शामिल होंगें, ऐसा नही कि कोई धर्म विशेष के लोग ही परेशान होंगे। और जो जितना ग़रीब होगा, और सुदूर क्षेत्र का निवासी होगा वह उतना ही पीड़ित होगा। ज़रा कल्पना करें कि पर्वतीय या बीहड़ इलाक़े में रहने वालों को ज़िला या ब्लॉक मुख्यालय में एनआरसी में नाम जुड़वाने के लिए कितने चक्कर लगाने

पड़ेंगें। और यदि नहीं हुआ तो कितनी ज़लालत झेलनी पड़ेगा।

यह उन लोगों से पूछिए जिन्हें किसी सरकारी योजना का लाभ लेने के लिए अनिवार्य रूप से बैंक खाता खोलने के लिए अनेक बार अपने घर से बैंक शाखा तक 20-20 कि.मी. पैदल चक्कर लगाने पड़े थे, क्योंकि हमारा अनुभव है कि बैंक के साहब ग़रीबों का बैंक खाता तक एक ही दिन में आसानी से नहीं खोलते। और यह तो एनआरसी जैसी भारी भरकम प्रक्रिया है साहब।

उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में जान लें कि यहाँ कम से कम 20 लाख लोग बुरी तरह पीड़ित होगें।

इससे पहले कुछ तथ्य जानना ज़रूरी है जिनमें कि अभी भी हमारे देश में वास्तविक साक्षरता और आँकड़ों की साक्षरता में बड़ा अन्तर है और तीन दशक पहले जब वोटर आईडी शुरू की की गयी थी तो और भी बुरा हाल था। पढ़े-लिखे और अध्यापन जैसे व्यवसाय में जो लोग हैं उनकी भाषा वर्तनी की शुद्धता पर भी सवाल है, मतदाता या आधार कार्ड बनाने वाले सभी धर्मों/भाषाओं की गूढ़ता/बातों/रस्मों और प्रतीकों को जानते हों यह ज़रूरी नहीं यही कारण है कि प्रमाणपत्रों और दस्तावेज़ों में लिखे नाम उनके वास्तविक नामों से भिन्न हो गये हैं।

फिर जागरुकता का अभाव हर काल में रहा है, यहाँ तो पढ़े -लिखे भी बात समझने के लिए तैयार नहीं होते, हिन्दी में नाम की अशुद्धियों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी में दिये नाम में और भी ग़लतियाँ देखी गयी हैं।

मतदाता सूची में और अन्य दस्तावेज़ों में ब, भ, स श, अ, ह, त, थ, आधा त, र, स श न, ह, के प्रयोग की भयंकर अशुद्धियाँ शामिल हैं। नाम में ग़लत शब्द के प्रयोग से धर्म का बोध तक बदलता देखा गया है, मुस्लिम नाम कफ़ील के हिन्दू नाम कपिल बनने में देर नहीं लगती, इसी तरह मुस्लिम नाम निशात, बदलते बदलते निशाद हो जाता है। क़तील नाम क़ातिल हो जाये कह नहीं सकते। गुरमित ही गुरप्रीत है यह सिद्ध करना आसान नहीं होगा।

पर्वतीय क्षेत्रों में 'त्र' अक्षर से अनेक नाम ख़ूब प्रचलित हैं, त्रिभुवन, त्रिलोक, त्रिलोचन, त्रिपुरारि, आदि-आदि यह शब्द कम से कम तीन अन्य तरह से दस्तावेज़ों में मिलता है, जैसे, तिरलोक, तिलोक, तिरिलोक/तिरीलोक। इसी तरह आधे अक्षरों से युक्त शब्दों के एक से अधिक रूप हैं : देवेन्द्र, देवेन्द्रा, देविन्दर, देवेन्दर। चन्द्र कब और कैसे चन्दन हो जाये या चन्द्रा हो जाये कहा नहीं जा सकता।

इसी तरह एक मुस्लिम नाम 'इशहाक़' मतदाता सूची/दस्तावेज़ों में कैसे-कैसे लिखा गया है इसकी बानगी देखिए, ईशाक, इशाक, इश़ाक, इशहाक, इश्हाक, ईश़हाक, ईशहाक।

इसी तरह ईश्वर शब्द भी अनेक रूपों में दस्तावेज़ों में मिल जायेगा।

परेशानी यह है कि वर्तमान समय में कम्प्यूटर की मूल भाषा अंग्रेज़ी होने के कारण ऑपरेटर कैसे लिखता है, जो कि आपके मूल दस्तावेज़ से भिन्न है, इसे अच्छे-अच्छे पढ़े लोग नहीं जान पाते हैं, अशिक्षित और कम जानकारों के लिए यह सब बहुत ही मुश्किल है।

हिन्दी से रोमन या अंग्रेज़ीकरण करने का कोई मानक तय नहीं है। (यदि होगा तो उसकी जानकारी नहीं है और न व्यवहार में ऐसा हो सकता है) हिन्दी टाइपिंग में वर्तनी की अशुद्धियों और भूलों को सुधारने का न तो कोई नियम है और न उसे सुधारने की कोई स्वतः प्रक्रिया ही अस्तित्व में है।

दस्तावेज़ों में ग़लतियों से फ़ौजियों/फ़ौजी परिवारों को सर्विस के दौरान और रिटायरमेन्ट के बाद अपने बच्चों के नाम में फ़र्क़ से होने वाली परेशानी से भटकते देखा है। बैंक एकाउण्ट से लेकर स्कूल में दाख़िल होने तक में परेशानी आती है। ऐसे में यदि दादा, नाना के मूल नामों में अन्तर आया तो एनआरसी में नागरिकता सिद्ध करना आसान नहीं होगा, असम में ऐसे लोगों का बहुत बड़ा प्रतिशत है।

एक सार्वजनिक कम्पनी में प्लेसमेंट और ट्रेनिंग का कार्य देखते हुए और बाद में संस्थागत कार्य करते हुए नामों में बहुत ग़लतियाँ मिली, हिन्दी और अंग्रेज़ी के नाम में बहुत अन्तर से बखेड़े होते हुए देखे हैं। जिसके कारण लोगों के बहुत काम अटके, वह या तो नहीं हुए या फिर देर से हुए, नवराष्ट्रवाद के काल में ऐसा भी हुआ कि बच्चों के स्कूलों में एडमीशन और परीक्षाओं में प्रवेश में भी आधार कार्ड के और दूसरे दस्तावेज़ों में दर्ज नामों के अन्तर के कारण परेशानी और झंझट हुए।

हमारे समय में हिन्दी वर्णमाला के साथ बारहखड़ी एक आवश्यक अभ्यास था ताकि शब्द लिखने में और वाक्य विन्यास में आसानी हो, अब ऐसा नहीं होता। बात मज़ाक़ में की जाती है कि हिन्दी में बीए, एमए करने वाला हिन्दी की 10 पंक्तियाँ शुद्ध नहीं लिख सकता, यही हाल अंग्रेज़ी का भी है।

ऐसी स्थिति में यदि एनआरसी समर्थक भी जब अपने या अपने परिवार के सदस्यों के नामों को सही करने के लिए लाइन लगायेंगे तो कितना श्रम, उर्जा और धन की बर्बादी होगी इसको सोचकर सिहरन होती है। असम का अनुभव है कि वहाँ लोग चार साल तक पगला गये थे, हर परिवार के हज़ारों रुपये अनावश्यक इसमें लगे थे। 16000 करोड़ रुपये यदि सरकारी पैसा ख़र्च हुआ है तो वह भी देश का पैसा बर्बाद हुआ है, एक अध्ययन के अनुसार एक असमिया के एनआरसी रजिस्टर में अपना नाम दर्ज/वेरीफ़ाई कराने में

औसतन 19000 रुपये ख़र्च हुए हैं। कल्पना करें कि पूरे देश में कितनी बड़ी बर्बादी होने जा रही है।

इस स्थिति की गम्भीरता को इस तरह समझें कि किन्हीं लोगों के पिता/बुज़ुर्गों का नाम भूमि आदि के दस्तावेज़ों में रामू, दीनू, नथुवा, बलवन्ता लिखा है जबकि उनके दस्तावेज़ों में क्रमशः राम सिंह या रामलाल, रामप्रसाद, दीनानाथ, दीनदयाल, और बलवन्त सिंह है तो उन्हें बहुत कुछ सिद्ध करना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ रामू क्या वास्तव में तुम्हारे बाप/बुज़ुर्ग थे। यह जान लें कि अभी तक दस्तावेज़ों तक में अशुद्ध या देशज/घरेलू नामों का प्रयोग ख़ूब हुआ है और होता रहा है, अशिक्षित बुज़ुर्गों द्वारा दस्तावेज़ों में ख़ूब घरेलू नामों का प्रयोग होता था, स्कूल में दाख़िल होते समय यह नाम कुछ का कुछ हो जाता था। वैसे यह बिगड़ भी जाता था।

जिन लोगों ने अपने पिता के नाम दस्तावेज़ों में आधे-अधूरे व देशज नामों से ज़रा भी अलग रखे हैं, या स्कूल में मास्साहबों ने "सुधार" दिये हैं, ठेंगा सिंह एक दस्तावेज़ में ठाकुर सिंह हो सकते लेकिन दस्तावेज़ में दोनों एक ही हैं यह सिद्ध करना मुश्किल हो जायेगा। ऐसे लोग जान लें कि उनपर बड़ी आफ़त आने वाली है, यह नाम रमुवा, भिमुवा, जसुली, परूली से लेकर छिद्दा, छिद्दू और ननकू तक हो सकते हैं।

क्योंकि जैसे आजकल के बहुत से माँ-बापों तक को यह पता नहीं होता उनका मुन्ना, पिंकी, गुड्डी, दस्तावेज़ों में क्या हैं। वैसे अब पप्पू, कार्की और गुड्डी अधिकारी भी होते हैं। ऐसे में सौ साल पहले की स्थिति की कल्पना करें। ध्यान रहे, स्कूल जानेवाले और हाईस्कूल तक पहुँचने वाले बहुत-से बच्चे अभी भी ख़ानदान में पहले होते हैं, यानी कि उनके माँ-बाप और बुज़ुर्गों ने इससे पहले स्कूल का मुँह नहीं देखा होगा।

अब ज़रा एक और तकनीकी पक्ष देखें एनआरसी प्रक्रिया में हर भारतीय की नागरिकता सन्दिग्ध मान ली जायेगी, आपको लाइन लगाकर यह सिद्ध करना होगा कि आपका जन्म 1972 से पहले भारत में हुआ है और यहीं रहते थे, यदि उसके बाद हुआ है तो आपके माता-पिता/दादा-दादी का जन्म उस अवधि से पूर्व भारत में हुआ था और वह यहाँ रह रहे थे। जिसके लिए आपके पास ऐसा दस्तावेज़ होना चाहिए। जन्म पंजीकरण के क़ानून को लागू हुए अभी जुमा-जुमा आठ दिन हुए हैं लेकिन आपको एनआरसी के लिए दशको पुराने अपने बुज़ुर्गों का जन्म प्रमाण चाहिए होगा।

इस प्रक्रिया में यह बात समझ लें कि नाम लिखित में सही होना चाहिए और उस नाम से आपका या आपके पिता या माता का नाम मिलना चाहिए, या सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए।

इस समय यह भूल जायें कि भारत में बड़ी संख्या में अशिक्षित, भूमिहीन, आदिवासी, घुमक्कड़ खानाबदोश, बिना मकान के इधर-उधर या खुले आसमान के नीचे फ़ुटपाथ में रहकर गुजरबसर वाले करोड़ों लोग हैं जिनके पास अपना या अपने बुज़ुर्गों के जन्म का कोई प्रमाण नहीं होता।

यदि बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं कि उनके पास अपने बुज़ुर्गों के जन्म की लिखित सनद है तो "वह भी" समझ लें कि उसमें से 25% पर आफ़त आने वाली है क्योंकि भूमि/आदि के दस्तावेज़ों में 25% अशुद्धियाँ तो मिलनी हैं, यदि किसी के बुज़ुर्ग के नाम में अशुद्धि मिली तो बुज़ुर्ग का नाम तो ठीक होने से रहा उसे ही अपने और अपने बच्चों के नाम उसी तरह शुद्ध कराने पड़ेंगे, सामान्य रूप से समझ लें कि आपके बुज़ुर्ग का नाम जो कुछ है वैसा ही आपके दस्तावेज़ों में होना चाहिए।

आप अपने बच्चों या अपने आधार कार्ड का नाम सुधारना चाहते हैं तो अब यह आसान नहीं है, आधारकार्ड में नाम सुधार की प्रक्रिया बहुत कड़ी और सीमित कर दी गयी है, पिछले वर्ष तक यह हर सेन्टर पर आसानी से हो जाया करती थी। फिर आप अभी अपने या बच्चों के नामों में सुधार जैसे-तैसे कर भी लें (जो अब आसान नहीं हैं) तो अपने दादा-नाना का नाम कैसे ठीक करेंगे?

ऐसे में सबसे बड़ी समस्या दलितों, आदिवासियों, खानाबदोशों और प्रवासी लोगों की होने जा रही है, जिनके ख़ुद के प्रमाणपत्र नहीं होते वह अपने बाप-दादाओं के काग़ज़ात कहाँ से लायेंगे।

दलितों के साथ तो यह भयानक मज़ाक़ है क्योंकि अभी हाल तक उन्हें नाम रखने का अधिकार नहीं था, न ही उनका नामकरण होता था और न उनकी जन्मपत्री बनती थी। यहाँ तक यदि किसी दलित बच्चे का नाम ढंग का रख भी दिया गया तो उच्च वर्ग उस नाम को बिगाड़ देता था। रामलाल का रामू व रमुवा इसी तरह हो जाता था।

बेहद ग़रीबों, ग्रामीणों और प्रवासियों के सामने दस्तावेज़ सुरक्षित रखने का संकट भी रहा है, वह वर्षा, बाढ़, प्राकृतिक आपदा, आग, और अपने लगातार बदलते प्रवास में अपने सीमित काग़ज़ भी सुरक्षित कैसे रखें। उत्तर भारत में विशेषकर उत्तराखण्ड व हिमाचल में घुमन्तु वनवासी गूजर इसी समस्या से परेशान हैं।

यह जान लें कि इस प्रक्रिया में पूर्व राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अहमद और असम की पूर्व मुख्यमंत्री अनवरत तैमूर व कारगिल के हीरो फ़ौजी सनाउल्ला जैसे सेना अधिकारी ही नहीं परेशान हुए हैं, लाखों शर्मा, वर्मा और सुन्दर, चन्दर भी परेशान हुए हैं।

●

अर्थजगत

फ़ासीवादी मोदी राज में विकराल होती बेरोज़गारी

● अविनाश

बेरोज़गारी! पूँजीवादी व्यवस्था अपनी स्वाभाविक गति से इस लाइलाज बीमारी को पैदा करती है जो देश के युवाओं की ज़िन्दगी पर भारी पड़ रही है। जब नौजवानों को देश-दुनिया की परिस्थितियों, ज्ञान-विज्ञान और प्रकृति से परिचित होना चाहिए, बहसों में हिस्सा लेना चाहिए, उस समय नौजवान तमाम शैक्षिक शहरों में अपनी पूरी नौजवानी एक नौकरी पाने की तैयारी में निकाल दे रहे हैं और फिर भी रोज़गार मिल ही जायेगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। बेरोज़गारी नौजवानों को गहरे अवसाद में धकेल रही है। मेडिकल साइंस की प्रतिष्ठित पत्रिका 'लेसेंट एण्ड लेसेंट साइकेट्री' के मुताबिक़ भविष्य की असुरक्षा, बेहतर विकल्प की कमी, मनमुआफ़िक़ काम न होना और कल्पनाशीलता एवं सृजनशीलता की कमी के कारण नौजवान अवसाद के शिकार होते जा रहे हैं। भारत में लगभग 9 करोड़ लोग किसी न किसी प्रकार के मानसिक रोग से ग्रस्त हैं और किसी तरह की उम्मीद न दिखायी देने की सूरत में हर साल लाखों लोग आत्महत्या जैसे क़दम उठा लेते हैं। एनसीआरबी की हालिया रिपोर्ट के अनुसार भारत में हर 2 घण्टे में 3 छात्र बेरोज़गारी से तंग आकर आत्महत्या करने को मजबूर है। 2018 में हर दिन स्वरोज़गार से जुड़े 36 नौजवानों ने भविष्य की अनिश्चितता की वजह से ज़िन्दगी की जगह मौत को चुना लेकिन स्टार्टअप इण्डिया का ख़्वाब बेचकर सत्ता में पहुँचने वाली फ़ासीवादी मोदी सरकार इन नौजवानों की असमय मौत पर क़ातिलाना चुप्पी मार कर बैठी हुई है। इन मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए संघ और भाजपा देश को हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर साम्प्रदायिकता की आग में झोकनें का हर सम्भव प्रयास कर रही है। सीएए, एनआरसी और एनपीआर इसी कड़ी में आगे बढ़ा हुआ क़दम है। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह हैं कि एक बड़ी युवा आबादी मोदी-शाह के साम्प्रदायिक बँटवारे की राजनीति में उलझकर हिन्दू-मुसलमान बनकर सोचने लगी है।

देश मे बेरोज़गारी अब भयावह ढंग से बढ़ रही है। करोड़ युवा बेरोज़गारी में सड़कों की धूल फाँक रहे हैं और मोदी सरकार की कारगुज़ारियों की वजह से इस संख्या में बेतहाशा वृद्धि हो रही है। एनएसएसओ की रिपोर्ट के मुताबिक़ बेरोज़गारी दर पिछले 45 वर्षों के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी है। वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण के दावों की पोल खोलते हुए सीएमआईई की हालिया रिपोर्ट बता रही है कि देश में बेरोज़गारी दर जनवरी में 7.16% के मुक़ाबले फ़रवरी में बढ़कर 7.78% हो गयी है जो अक्टूबर 2019 के बाद सबसे ज़्यादा है। शहरी इलाक़ों में फ़रवरी में बेरोज़गारी दर 8.65% रही, जबकि ग्रामीण इलाक़ों में यह 7.37% हो गयी। हालाँकि गाँवों में जो रोज़गार है उसका स्तर बहुत ही ख़राब है और मज़दूरी भी शहरों की अपेक्षा काफ़ी कम हैं। बढ़ती बेरोज़गारी की सबसे भयंकर मार शिक्षित नौजवानों पर पड़ रही है, 20 से 29 साल के ग्रेजुएट युवाओं में बेरोज़गारी की दर 42.8 पहुँच गयी है। वहीं, सभी उम्र के ग्रेजुएट के लिए औसत बेरोज़गारी दर इतिहास में सबसे ज़्यादा 18.5 फ़ीसदी पर पहुँच गयी है। इसी तरह का हाल पोस्ट-ग्रेजुएट के लिए भी है। कॉलेज से निकलर जॉब मार्केट में आने वाले युवओं की स्थिति भी बेहतर नहीं है। 20 से 24 साल की उम्र के युवाओं के बीच सितम्बर से दिसम्बर के दौरान बेरोज़गारी की दर दोगुनी होकर 37 फ़ीसदी पर पहुँच गयी।

नीचे दिये गये ग्राफ़ से स्पष्ट है कि 30 साल से अधिक आयवर्ग

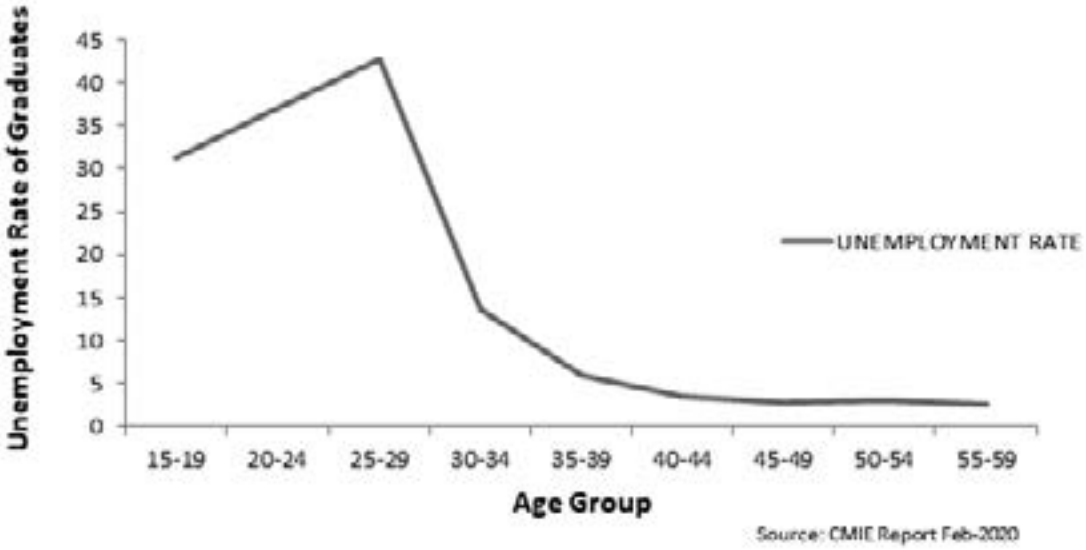

के लोगों में बेरोज़गारी दर अचानक बहुत कम हो जाती है। ऐसा इसलिए नहीं होता कि 30 साल के बाद सबको रोज़गार मिल जाता है बल्कि नौकरी नहीं मिलने और सामाजिक सुरक्षा स्कीम्स के अभाव में रोज़ी-रोटी चलाने के लिए रेहड़ी-खोमचा लगाने लगते हैं या फ़्लिपकार्ट, अमेज़ॉन जैसी कम्पनियों में डिलीवरी ब्वॉय का काम या इसी प्रकार का कोई दूसरा काम करने लगते हैं जिसको 'सेल्फ़-एम्प्लॉयड' कहा जाता है। मतलब युवाओं के लिए सेल्फ़-एम्प्लॉयड एक तरह से अभिशाप बनकर उनकी योग्यता को मुनाफ़े की भेंट चढ़ा रहा है। शायद यही वजह है कि प्राइवेट सेक्टर के सबसे बड़े एम्प्लॉयर क्वेस कॉर्प में डिलीवरी ब्वॉय के रूप में 3.85 लाख लड़के काम करते हैं। औसतन भारत में बेरोज़गारी की दर 50% हैं। यानि काम करने योग्य व्यक्तियों में से केवल आधे के पास रोज़गार है। और यथास्थिति बनाये रखने के लिए हर साल क़रीब 1 करोड़ 20 लाख नौकरियों की ज़रूरत है।

हर साल 2 करोड़ रोज़गार पैदा करने का सपना दिखाकर सत्ता में आयी मोदी सरकार अब रहे-सहे रोज़गार के अवसरों को भी निगलती जा रही है। देश की जनता की मेहनत से खड़े किये गये पब्लिक सेक्टर को औने-पौने दामों में अपने आकाओं को सौंप रही है। 3 मार्च 2020 को लोकसभा में वित्त-राज्य मंत्री अनुराग ठाकुर ने बताया कि सरकार 28 सार्वजनिक उपक्रमों की हिस्सेदारी बेचने की सैद्धान्तिक मंज़ूरी दे दी गयी है। जिसमें ऐसी भी कम्पनियाँ हैं जो सालों से फ़ायदे में थीं और हर साल करोड़ों रुपये टैक्स के रूप में सरकार को देती भी थीं। आने वाले दिनों में छँटनी की मार सार्वजनिक और निजी दोनों ही सेक्टर में तेज़ होने वाली है।

सेक्टर	टेक्सटाइल	जेम एण्ड ज्वेलरी	बैंकिंग	ऑटोमोबाइल्स	रीयल एस्टेट	टेलीकॉम	एविएशन
कम हुई नौकरियों की संख्या	3.5 करोड़	5 लाख	3.15 लाख	2.30 लाख	2.7 लाख	90 हज़ार	20 हज़ार

बीते पाँच सालों में देश के सात प्रमुख सेक्टर्स टेक्सटाइल, जेम एण्ड ज्वेलरी, बैंकिंग, आटोमोबाइल्स, रीयल एस्टेट, टेलीकॉम और एविएशन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से 3.64 करोड़ नौकरियाँ जा चुकी हैं जिसमें सर्वाधिक 3.5 करोड़ नौकरियाँ टेक्सटाइल सेक्टर की हैं।

ईपीएफ़ओ के अप्रैल 2019 की रिपोर्ट के अनुसार सितम्बर 2017 से फ़रवरी 2019 के बीच केवल 4,49,261 नई नौकरियाँ आयीं। 6 माह में 26% नये रोज़गार कम आये।

भारत में बेरोज़गारी की भयावह मार और भाजपा के रोज़गार सृजन के दावे को उत्तर प्रदेश के उदाहरण से समझा जा सकता है। योगी सरकार के श्रम मंत्री द्वारा 7 फ़रवरी 2020 को पेश की गयी रिपोर्ट के मुताबिक़ उत्तर प्रदेश में शिक्षित बेरोज़गार नौजवानों की संख्या जुलाई 2018 के 21.39 लाख से बढ़कर 34 लाख पहुँच गयी है। मतलब उत्तर प्रदेश में शिक्षित बेरोज़गारों की संख्या मात्र डेढ़ सालों मे 59% बढ़ गयी है। 18 फ़रवरी को योगी सरकार द्वारा पेश किये गये नये बजट में युवाओं को रोज़गार देने के लिए दो नयी स्कीम 'मुख्यमंत्री शिक्षुता प्रोत्साहन योजना' और 'युवा योजना' चालू की गयी हैं। पहली स्कीम में 80 हज़ार से ज़्यादा युवाओं को स्किल ट्रेनिंग के साथ-साथ 2500 रुपये हर महीने भत्ता भी दिया जायेगा और ट्रेनिंग के बाद इन युवाओं को रोज़गार दिलाने की ज़िम्मेदारी सरकार की होगी। 'युवा योजना' के तहत हर ज़िले में एक युवा हब बनाया जायेगा और 1 लाख युवाओं को अपना ख़ुद का बिजनेस खोलने में सरकार मदद करेगी। अब दोनों योजनाओं को मिलाकर भी ज़्यादा से ज़्यादा 2 लाख लोगों को ही रोज़गार दिया जा सकता है जो बेरोज़गार युवाओं की तुलना में ऊँट के 'मुँह में जीरे' से भी कम हैं।

पूँजीवाद में एक तरफ़ विलासिता के शिखर पर अम्बानी-अडानी जैसे धनपशु होते हैं तो दूसरी तरफ़ मज़दूरों की एक ऐसी तादाद मौजूद रहती है जिनके पास जीने के लिए श्रमशक्ति बेचने के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं होता, मगर उन्हें अपनी श्रमशक्ति का कोई ख़रीदार नहीं मिलता, उन्हें कोई काम नहीं मिलता, वे "बेरोज़गार" होते हैं। बेरोज़गारों की इसी फौज़ को औद्योगिक रिज़र्व सेना कहते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। जिसका इस्तेमाल पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ करता है।

बेरोज़गारी से लड़ने के नाम पर स्किल इण्डिया, स्टार्टअप इण्डिया, वोकेशनल ट्रेनिंग जैसी तमाम योजनाओं के विज्ञापन पर सरकार ने जमकर पैसा लुटाया, और बेरोज़गारी की असली वजह को लोगों के सामने नहीं जाने दिया। बेरोज़गारी महज़ एक मानवीय समस्या नहीं है, जिसका सामना बेरोज़गारों को करना पड़ता है। यह मौजूदा व्यवस्था का संकट है।

चूँकि लूट-मुनाफ़े पर टिकी हुई पूँजीवादी व्यवस्था के लिए बेरोज़गारों का होना पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए फ़ायदेमन्द होता है। ऐसे में इस व्यवस्था की परिधि में रहकर बेरोज़गारी से निजात पाने के बारे में सोचना अन्ततोगत्वा दिवास्वप्न साबित होगा। ऐसे में 'सबको शिक्षा, सबको काम' नारे के इर्द-गिर्द एक बड़ी लामबन्दी क़ायम करते हुए आन्दोलन छेड़ने की ज़रूरत है और इस संघर्ष को पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध चलने वाले व्यापक संघर्ष से जोड़े बग़ैर इसका कोई हल नहीं निकल सकता है। असल मायने में इस समस्या का समाधान न्याय और समता पर आधारित समाजवादी समाज में ही सम्भव है।

●

समाज

नागौर, राजस्थान में घटी दलित युवकों को पीटकर गुप्तांगों में पेट्रोल डाल देने की भयावह घटना! देश में बढ़ते दलित उत्पीड़न के ख़िलाफ़ एकजुट संघर्ष की दरकार है!

● अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच (हरियाणा)

आये दिन कभी घोड़ी पर चढ़ने के कारण तो कभी मूछें रखने के कारण; कभी अन्तर्जातीय विवाह के कारण तो कभी प्रेम प्रसंग के कारण; कभी बर्तन छू लेने के कारण तो कभी मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ने के कारण दलित उत्पीड़न की घटनाएँ सामने आती रहती हैं। घनघोर जाति व्यवस्था आज भी क़ायम है और रोज़ दलित उत्पीड़न के नये-नये मामले सामने आ रहे हैं। इसके बावजूद भी भाजपा और संघ के नेता राम माधव ने कुछ दिन पहले ही फ़रमाया था कि जाति व्यवस्था बड़ी अच्छी चीज़ है। हाल में राजस्थान में दलित उत्पीड़न की घटना सामने आयी है फ़िलहाल जहाँ कांग्रेस की सरकार है। कुछ दिन पहले पंजाब के संगरूर में भी एक दलित युवा की बेरहमी से हत्या किये जाने का मामला सामने आया था। तमाम सरकारें आयीं और गयीं किन्तु जातिवादी मानसिकता में कोई कमी नहीं आयी बल्कि इसे नया-नया खाद-पानी मिलता रहा है।

राजस्थान के नागौर में दलित उत्पीड़न का घृणित घटनाक्रम सामने आया है। 16 फ़रवरी को 100-200 रुपये की चोरी के शक में दो युवाओं को बुरी तरह से पीटा गया। ज़ुल्म की हदों को पार करते हुए एक युवक के गुप्तांग में पेंचकस घुसा दिया और पेट्रोल तक डाल दिया गया। 20 तारीख़ को वीडियो वायरल होने के बाद घटनाक्रम सामने आया। पीड़ित विसाराम के द्वारा दी गयी पुलिस रिपोर्ट के अनुसार वे 16 फ़रवरी को अपने चचेरे भाई पन्ना राम के साथ सर्विस सेन्टर पर मोटर साइकिल की सर्विस कराने के लिए गये थे। वहाँ थोड़ी देर बाद कई लोगों ने चोरी का आरोप लगाकर उन्हें बुरी तरह पीटना शुरू कर दिया तथा ज़ुल्म की हदें पार कर दीं। हालाँकि कुछ दोषियों को गिरफ़्तार कर लिया गया है किन्तु यह दलित उत्पीड़न की घटनाओं का अन्त नहीं है।

दलितों के पैर धोने और उनके घर पर खाना खाने का ढोंग-पाखण्ड करने से कुछ नहीं होने वाला!

दलित उत्पीड़न की नागौर, राजस्थान की घटना कोई नयी घटना नहीं है। ख़ुद सरकारी आँकड़ों की मानें तो दलित उत्पीड़न की घटनाओं में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। जाति व्यवस्था की पैरोकार भाजपा के सत्ता में आने के बाद जातिवादी हमले और तेज़ हुए हैं। नेशनल क्राइम रेकॉर्ड ब्यूरो (NCRB/एनसीआरबी) की आख़िरी रिपोर्ट के अनुसार 2006 से 2016 के बीच के दस सालों में दलित विरोधी अपराधों में 66 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है, 2006 में 27,070 दलित विरोधी मामले दर्ज हुए थे, 2011 में इनकी संख्या बढ़कर 33,719 हो गयी। आगे चलकर 2016 में दलित उत्पीड़न के 48,801 मामले दर्ज हुए। देशभर में दलित विरोधी जातिगत नफ़रत व हिंसा का लम्बा इतिहास रहा है। 1989 में एससी/एसटी एक्ट के लागू होने के बावजूद भी देश में औसतन हर 15 मिनट में एक दलित उत्पीड़न का शिकार होता है; हर घण्टे दलितों के ख़िलाफ़ 5 से ज़्यादा हमले दर्ज होते हैं; हर दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है; अगर दलित महिलाओं की बात की जाये तो उनकी स्थिति तो और भी भयानक है। प्रतिदिन औसतन 6 स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती हैं। देशभर में दलित मज़दूर आबादी को आर्थिक तौर पर अति-शोषण और सामाजिक तौर पर उत्पीड़न झेलना पड़ता है।

मामलों के प्रशासनिक और न्यायिक संज्ञान में आने के बाद भी वास्तविक न्याय मिलने की गारण्टी नहीं होती!

पहली बात तो बहुत सारे दलित विरोधी उत्पीड़न के मामले सामाजिक डर और आर्थिक असुरक्षा के चलते

पुलिस-प्रशासन के संज्ञान में ही नहीं आ पाते। किन्तु पुलिस और कोर्ट की फ़ाइलों में दर्ज होने के बाद भी न जाने कितने मामले अपनी तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच पाते। देशभर में हुए भयंकर दलित विरोधी काण्ड और उनकी न्यायिक प्रक्रिया हमारी न्यायव्यवस्था पर भी बहुत से सवाल खड़े करती है। आप ख़ुद ही देखिए कि देशभर में दलितों के ख़िलाफ़ संगठित हिंसा करने वालों का क्या बिगड़ा।

- 44 दलितों की हत्या, किलवनमनी, तमिलनाडु, 25 दिसम्बर 1968, न्यायिक परिणाम – सभी आरोपियों को बरी कर दिया गया।
- 13 दलितों की हत्या, चुंदुर, आन्ध्रप्रदेश, 6 अगस्त 1991, न्यायिक परिणाम – 2014 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।
- 10 दलितों की हत्या, नागरी, बिहार, 11 नवम्बर 1998, न्यायिक परिणाम – मार्च 2013 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।
- 22 दलितों की हत्या, शंकर बीघा गाँव, बिहार, 25 जनवरी, 1999, न्यायिक परिणाम – जनवरी 2015 में सभी आरोपी बरी।
- 21 दलितों की हत्या, बथानी टोला, बिहार, 11 जुलाई 1996, न्यायिक परिणाम – अप्रैल 2012 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।
- 32 दलितों की हत्या मिंयापुर, बिहार, 2000, न्यायिक परिणाम – 2013 में सभी को छोड़ दिया गया।
- 58 दलितों की हत्या, लक्ष्मणपुर बाथे, 1 दिसम्बर 1997, न्यायिक परिणाम – 2013 में सभी को छोड़ दिया गया।
- महाराष्ट्र का प्रसिद्ध नितिन आगे केस, जिसमें एक दलित नौजवान को गाँव के सामने मार दिया गया था, 28 अप्रैल 2014, न्यायिक परिणाम – 23 नवम्बर 2017 के दिन सबको छोड़ दिया गया।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि दलितों के विरुद्ध हुए बहुत से बर्बर से बर्बर हत्याकाण्डों में भी सज़ाएँ बिल्कुल नहीं हुई। ये चन्द आँकड़े साफ़ बता रहे हैं कि 70 साल की आज़ादी के बाद भी ग़रीब दलित आबादी हर रूप से कितनी अरक्षित है।

दलित मुक्ति का रास्ता अस्मितावाद और प्रतीकवाद से नहीं बल्कि वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन से होकर जाता है!

आज अस्मितावाद (यानी दलितों को उनकी जातीय पहचान और अस्मिता के आधार पर संगठित और गोलबन्द करना) तथा प्रतीकवाद (यानी मूर्ति तोड़े जाने और किसी के बारे में किसी के द्वारा कुछ कह देने जैसे मुद्दों को ही मुखरता से उठाना और दलित-ग़रीब आबादी के असल मुद्दों पर चुप रहना) से दलितों का कोई भला नहीं होने वाला। हमें यह बात समझ लेनी होगी कि बिना क्रान्ति के दलित मुक्ति नहीं हो सकती व बिना जाति-व्यवस्था विरोधी व्यापक आन्दोलनों के क्रान्ति का विचार भी एक ख़याली पुलाव भर है। जातिवाद और ब्राह्मणवाद आज संस्कारित तौर पर (तन्तुबद्धिकृत होकर या 'सबलिमेटेड' फ़ॉर्म में) पूँजीवादी व्यवस्था की ही सेवा कर रहा है। जातिवाद, साम्प्रदायिकता और तमाम तरह की अस्मितावादी राजनीति आज पूँजीवाद के लिए 'संजीवनी बूटी' के समान है। व्यवस्था के ठेकेदार पूँजीवाद द्वारा परिष्कृत करके अपना ली गयी जाति-व्यवस्था का अपने हितों के लिए ख़ूब इस्तेमाल कर रहे हैं। यही कारण है कि आज़ादी के 72 साल बाद भी जातिवादी दमन-उत्पीड़न घटने की बजाय बढ़ ही रहे हैं। यदि देशव्यापी आँकड़ों पर नज़र दौड़ाएँ तो दलितों का क़रीब 95 प्रतिशत हिस्सा खेतिहर मज़दूर, निर्माण मज़दूर औद्योगिक मज़दूर के तौर पर खट रहा है या फिर सफ़ाई जैसे काम में लगा है।

अस्मितावादी और प्रतीकवादी राजनीति करने वाले लोग विरले ही इस मेहनतकश दलित आबादी के मुद्दों को उठाते हैं। इस मज़दूर आबादी के मुद्दे सीधे तौर पर देश की अन्य मेहनतकश आबादी के साथ भी जुड़ते हैं। दलित विरोधी उत्पीड़न के मुद्दों के ख़िलाफ़ लड़े जाने वाले संघर्षों को मज़बूती के साथ तभी लड़ा जा सकता है जब हर जाति की व्यापक मेहनतकश जनता को जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ लामबद्ध किया जायेगा। शिक्षा-रोज़गार-चिकित्सा-आवास-महँगाई जैसे मुद्दों पर होने वाले संघर्षों में हर जाति की मेहनतकश जनता की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए। साथ ही कमेरों के बीच वैचारिक-शैक्षणिक मुहिम चलायी जानी भी बेहद ज़रूरी है जिसके माध्यम से लोगों के बीच जाति-व्यवस्था के इतिहास और वर्तमान से जुड़े विभिन्न पहलुओं और इसकी समाप्ति के आवश्यक कार्यभारों व चुनौतियों को स्पष्टता के साथ रखा जा सके। तथाकथित उच्च जाति वालों के सामने भावनात्मक अपीलों से कुछ नहीं होगा। जाति-व्यवस्था विरोधी आन्दोलनों को मेहनतकश वर्ग की एकजुटता के दम पर ही असल मुक़ाम तक पहुँचाया जा सकता है। हम देश की आम मेहनतकश जनता, छात्रों-युवाओं व जातिविरोधी कार्यकर्ताओं से अपील करते हैं कि हमारी बातों पर ग़ौर करें। हमें उम्मीद है कि जाति-व्यवस्था को समाप्त करने के लिए होने वाले व्यापक संघर्षों हेतु संवाद और वैचारिक बहस-मुबाहिसे का स्वस्थ माहौल ज़रूर बनेगा।

●

समाज

सीएए और एनआरसी के मुद्दे पर जगदीश उर्फ़ जग्गी वासुदेव द्वारा सत्ताधारियों के चरण-चुम्बन! जग्गी वासुदेव द्वारा बोले गये झूठ तथा जनता द्वारा सीएए-एनआरसी का किया जा रहा विरोध!

● अरविन्द

यह कोई अचरज की बात नहीं है कि तमाम तरह के दन्द-फन्द और तिकड़म से अपना साम्राज्य फैलाने में लगा एक बहरूपिया भाजपा की फ़ासीवादी सरकार की नीतियों का झण्डाबरदार बना हुआ है। सत्ता को अपने स्याह को सफ़ेद करने के लिए ऐसे ही दुष्प्रचारकों की ज़रूरत होती है और ऐसे पाखण्डियों को भी अपने काले साम्राज्य को क़ायम रखने के लिए सत्ता के आशीर्वाद की दरकार होती है। भौतिक वस्तुओं से परम सुख लूटकर आध्यात्मिक ज्ञान के नाम पर लोगों की जेबें ढीली करने वाले ऐसे स्वयं नामधारी युगदृष्टाओं के लिए यह एकदम भौतिक क्रियाव्यापार है। यह ठीक इसी तरह से है कि एक हाथ दे और दूसरे हाथ ले और तू मेरी (पीठ) खुजा मैं तेरी (पीठ) खुजाऊँ।

कुछ दिन पहले स्वयंभू गुरु जग्गी वासुदेव ने सीएए, एनआरसी पर और इसके विरोध में उठ खड़े हुए आन्दोलनों के ख़िलाफ़ बड़े ही कुटिल और शातिर ढंग से प्रवचन झाड़े थे। एक कहावत है कि 'केवल दाढ़ी बढ़ा लेने से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता' लेकिन हमारे जैसे पिछड़े समाज में दाढ़ी बढ़ा लेने से ही ज्ञान देने का लाइसेन्स मिल जाता है और इस पर बाबागिरी का मुलम्मा चढ़ जाये तो सोने पर सुहागा हो जाता है। बाबा यदि अंग्रेज़ी भी बोलने लगे तो इस देश के मध्यम वर्ग की एक अंग्रेज़ों के प्रति हीनता बोध (इन्फ़िरियोरिटी कॉम्प्लेक्स) से ग्रसित कूपमण्डूक आबादी एड़ियाँ उठा-उठाकर जैकारे लगाने लगती है। हालाँकि जग्गी वासुदेव पर आदिवासियों की ज़मीनें क़ब्ज़ा करने, वन क्षेत्र व वन्यजीवन को बर्बाद करने, एनजीओपन्थ करके धन हड़पने, महासमाधि के नाम पर पत्नी की हत्या करने और बाबाडम की ओट में अज्ञान फैलाने जैसे आरोप भी लगते रहे हैं लेकिन हमारे बाबा प्रधान देश में कॉर्पोरेट के इस चारण भाट का कहाँ कुछ बिगड़ना था। अब तो शासन और झूठ दोनों के शिरोमणि प्रधानमंत्री मोदी ने भी सीएए के समर्थन में सोशल मीडिया अभियान शुरू करते हुए इनके उक्त प्रवचन प्रलाप के विडियो के लिंक को अपने ट्विटर हैण्डल से शेयर कर दिया है। जगदीश वासुदेव उर्फ़ जग्गी वासुदेव उर्फ़ सद्गुरु असल में कुछ और नहीं बल्कि रविशंकर, रामरहीम, रामपाल, आसाराम, रामदेव, नित्यानन्द जैसे बाबाओं की पंगत का ही एक नमूना है। जग्गी वासुदेव ने एक बार कहा था कि जिस तरह से पुराने ज़माने में राजाओं के यहाँ राजगुरु होते थे वैसे ही आधुनिक युग में राजगुरुओं की ज़रूरत है जो शासन को सही रास्ते पर रख सकें! ख़ुद को राजगुरु साबित करने के लिए ही जग्गी वासुदेव दो फ़ुट की जीभ निकालकर शासन द्वारा फैलाये गये गन्द को साफ़ कर रहे हैं। इस पाखण्डी की झूठ और चाटुकारिता से लबालब 20 मिनट तक चली कुविचार वर्षा पर ज़रा सरसरी निगाह हम भी डाल ही लेते हैं।

जग्गी वासुदेव के अनुसार लोग बहकावे में आकर, कठोर दिल होने के कारण और करुणा से रिक्त हृदय के कारण सीएए जैसे क़ानून का विरोध कर रहे हैं। क्योंकि बाबा के तर्कों की पूरी बुनियाद ही इस बिन्दु से शुरू होती है इसलिए सबसे पहले तो यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि लोग सीएए का विरोध इसलिए नहीं कर रहे हैं कि इसके तहत पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और बांग्लादेश के उत्पीड़ित अल्पसंख्यकों (हिन्दू, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी) को नागरिकता मिल जायेगी। बल्कि लोग सीएए का विरोध इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इसमें धर्म को नागरिकता प्रदान करने का पैमाना बनाया गया है और भाजपा ने मुस्लिम विरोधी एजेण्डे के कारण धार्मिक और अन्य किसी भी तरह के उत्पीड़न के शिकार मुस्लिमों को सीएए के तहत नागरिकता दिये जाने के दायरे से बाहर रखा है। लोग सड़कों पर उतरकर इस क़ानून का इसलिए विरोध कर रहे हैं क्योंकि संविधान के थोड़े-बहुत भी जनवादी चरित्र को तार-तार करने का प्रयास किया गया है तथा भाजपा इसके साथ ही अपना मुस्लिम विरोधी

एजेण्डा सेट करने के चक्कर में है। भारत के धर्म-निरपेक्ष और जनवादी चरित्र (बेशक नाममात्र को ही) को नष्ट होने से बचाने के लिए लोग फ़ासीवादी सत्ता के साथ लड़ रहे हैं। और बेशक अपने आप में सीएए यहाँ के मुस्लिमों की नागरिकता छीनता नहीं है लेकिन यह क़ानून असुरक्षा की भावना को पैदा करता है और शासन-सत्ता की मंशा को भी ज़रूर स्पष्ट करता है। इतना ही नहीं यह क़ानून एनआरसी के साथ मिलकर बेहद ख़तरनाक हो जाता है जोकि मुस्लिमों के लिए यातना शिविरों के दरवाज़े खोल सकता है। हालाँकि एनआरसी मुस्लिमों ही नहीं बल्कि तमाम जनता और ख़ासकर ग़रीबों के लिए भी बेहद ख़तरनाक क़ानून है जिसके कारण बड़ी आबादी यातना शिविरों में भेजी जा सकती है। असल में लोग सीएए, एनआरसी और एनपीआर का इनके ग़ैर-जनवादी और फ़ासीवादी चरित्र के कारण ही विरोध कर रहे हैं।

वीडियो के शुरू में ही जग्गी कहते हैं कि उन्होंने नागरिकता संशोधन एक्ट के बारे में सिर्फ़ अख़बारों से और सामान्य रूप से उपलब्ध साधनों से ही जाना है तथा इसे पूरा नहीं पढ़ा है। इसे न पढ़कर भी इन्होंने 20 मिनट तक इस पर ज्ञान झाड़ दिया है और अचरज की बात है कि इनके अंग्रेज़ीदां भक्त बिना कान तक हिलाये पूरा प्रवचन पी गये! आगे ये कहते हैं कि आज़ादी के बाद देश का धार्मिक आधार पर विभाजन हुआ लेकिन फिर भी 23 प्रतिशत लोग पश्चिमी पाकिस्तान यानी आज के पाकिस्तान और 30 प्रतिशत पूर्वी पाकिस्तान यानी आज के बांग्लादेश में रुक गये हालाँकि इनका कहना है कि ये आँकड़ों के विशेषज्ञ नहीं हैं। सवाल उठता है कि जग्गी यदि आँकड़ों के विशेषज्ञ नहीं हैं और इन्होंने इन्हें जाँचा-परखा नहीं है तो संघियों की व्हाट्सएप्प यूनिवर्सिटी द्वारा फैलाये गये झूठ के गपोड़ों को इतने अधिकार के साथ क्यों उचार रहे हैं? हालाँकि पाकिस्तान और बांग्लादेश में धर्म के आधार पर अल्पसंख्यकों का दमन हुआ है और होता है। वहाँ हिन्दू, सिख, ईसाई ही नहीं बल्कि ख़ुद मुसलमानों के ही अलग-अलग धड़े (जैसे शिया मुसलमान, अहमदिया मुसलमान, और बांग्लादेश के बिहारी मुसलमान) भी धार्मिक और सामाजिक उत्पीड़न का शिकार हैं। धर्म के आधार पर बने राष्ट्रों से आप उम्मीद ही क्या कर सकते हैं? लेकिन इसके बावजूद भी गोयबल्स की शैली में अपना उल्लू सीधा करने के मक़सद से झूठ के गोले छोड़ने और झूठे आँकड़े पेश करने के लिए किसने कहा है? हक़ीक़त यह है कि 1951 की जनगणना के अनुसार पश्चिमी पाकिस्तान और आज के पाकिस्तान में हिन्दुओं की आबादी वहाँ की कुल जनसंख्या का 1.5 प्रतिशत से 2.0 प्रतिशत के बीच थी जोकि 1998 की जनगणना के अनुसार भी क़रीब 1.6 प्रतिशत थी तथा 2017 की जनगणना के अनुसार 3.3 प्रतिशत हो गयी है। ख़ुद हिन्दू काउन्सिल ऑफ़ पाकिस्तान के अनुसार वहाँ हिन्दुओं की आबादी कुल जनसंख्या का 4 प्रतिशत है और इसमें 1981 की जनगणना की तुलना में 93 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। पूर्वी पाकिस्तान यानी बांग्लादेश की कुल ग़ैर-मुस्लिम आबादी 23 प्रतिशत थी जो आज 8 प्रतिशत रह गयी है। किन्तु यहाँ से भी न केवल हिन्दुओं बल्कि मुस्लिमों की भी आबादी का बहुत बड़ा पलायन बेहतर अवसरों की तलाश में हुआ है हालाँकि धार्मिक आधार पर उत्पीड़न का भी पहलू है। यदि बांग्लादेश से हिन्दू और मुस्लिम दोनों का ही पलायन नहीं हुआ होता तो फिर संघ परिवार बांग्लादेशी मुस्लिम घुसपैठियों के नाम से दशकों से राग अलाप कर क्यों वोट की गोट लाल कर रहा है? जग्गी वासुदेव भी अपने एक और आराध्य अमित शाह की तरह ही पाकिस्तान की हिन्दू आबादी के सम्बन्ध में 1941 की जनगणना के आँकड़े ही प्रयोग कर रहे हैं जिनमें विभाजन के कारण हुए पलायन के चलते बहुत बड़ा फेरबदल हो गया था। यहाँ जब संसद के मंच से ही बेहिचक झूठ के पकोड़े तले जा सकते हैं तो जग्गी बाबा को अपने आश्रम में, अपनी (अन्ध)भक्तमण्डली के बीच रहते हुए भला क्या दिक़्क़त होने वाली थी।

जग्गी बाबा कहते हैं कि पाकिस्तान और बांग्लादेश में क़ानूनी तौर पर अल्पसंख्यकों और हिन्दुओं के साथ भेदभावों को मान्यता दी गयी है और उनकी जान-माल-इज़्ज़त-आबरू की कोई गारण्टी नहीं है। हालाँकि पाकिस्तान और बांग्लादेश के धार्मिक आधार पर बने राष्ट्र होने के बावजूद भी दोनों के संविधानों में ही अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा करने के नियम-क़ायदे मौजूद हैं। (अधिक जानकारी के लिए इन लिंकों पर फ़ैज़ान मुस्तफ़ा को सुना जा सकता है (1) https://youtu.be/tNG3oBI1ZiE (2) https://youtu.be/DJAoN5CVnN0

हालाँकि हम इनके सभी तर्क-बयानों से सहमत नहीं हैं।) किन्तु यह दीगर बात है कि वे हक़ीक़त में कितने अमल में लाये जाते हैं जैसे भारत में भी संविधान की नज़र में समानता होने के बावजूद ग़रीबों, दलितों और अल्पसंख्यकों को तरह-तरह की ज़ुल्म-ज़्यादतियाँ झेलनी पड़ती हैं। असल में जग्गी बाबा यहाँ पर ज़ुल्म-ज़्यादतियों का सामान्यीकरण करते नज़र आ रहे हैं। इनका कहना है कि हर देश में हर समाज में भेदभाव हो सकते हैं। हाल ही में गाय के नाम पर ग़रीब मुसलमानों की हत्याओं के बारे में क्या जगदीश उर्फ़ जग्गी अनजान हैं? असल में शोषण पर आधारित शासन सत्ता चाहे वह भारत की हो या पाकिस्तान की या किसी भी देश की अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए तरह-तरह के तिकड़म रचती है और जनता को आपस में ही लड़वाती है। पूँजीवादी

सत्ताएँ जनता को कूपमण्डूक रखने में ही अपने हित सुरक्षित पाती हैं। आर्थिक और राजनीतिक संकट की स्थिति में लोगों को लड़ाने के सत्ता के प्रयास और भी बढ़ जाते हैं। क्या भारत में हिन्दू-मुसलमान के नाम पर निरन्तर धधकती हुई दंगों की आग और इस आग में अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने वालों के कुत्सित प्रयासों का इतनी आसानी सामान्यीकरण किया जा सकता है? क्या भारत को लिंचिस्तान बनाने में संघ परिवार और सत्तासीन भाजपा की कारगुज़ारियाँ भुलाने योग्य हैं?

जग्गी वासुदेव आगे फ़रमाते हैं कि पहले लोग बिल का अनजाने में, बहकावे में आकर विरोध कर रहे थे और अब लोग धार्मिक भेदभाव को नहीं बल्कि पुलिस के अत्याचारों को प्रदर्शनों की वजह बता रहे हैं। बाबा यहाँ पर भी सफ़ेद झूठ बोल रहे हैं। जग्गी झूठ बोलने में अपने उस्तादों के भी उस्ताद प्रतीत हो रहे हैं। इनका कहना है कि जामिया के छात्रों ने खदान के मज़दूरों की तरह कैम्पस के अन्दर से पुलिस पर पत्थर फेंके और प्रदर्शनकारियों ने पुलिस वालों को बहुत बुरी तरह से पीटा है! जबकि हक़ीक़त यह है कि जामिया के अन्दर पुलिस का हमला बिल्कुल नाजायज़ था। ख़ुद दिल्ली पुलिस की ही गृहमंत्रालय को सौंपी गयी शुरुआती जाँच रिपोर्ट में छात्रों को क्लीन चिट देकर हिंसा का ज़िम्मेदार स्थानीय असामाजिक तत्त्वों को ठहराया गया है। क्या पुस्तकालय में बैठकर पढ़ रहे छात्रों को पीटना, आँसू गैस के गोले छोड़ना और छात्रों के टूटे हाथ व फूटी आँख देखने में जग्गी बाबा की आँखें फूट गयी हैं? क्या कुछ असामाजिक तत्त्वों के नाम पर पूरे कैम्पस को बर्बाद कर देना जायज़ है? जग्गी यहीं नहीं रुकते बल्कि शुक्र मना रहे हैं कि पुलिस वालों ने गोलियाँ नहीं चलायी! तो फिर उत्तरप्रदेश व देश के तमाम हिस्सों में 25 से ज़्यादा लोग क्या कंचे खेलते हुए मारे गये हैं? क्या चन्द हुडदंगियों और हिंसक भीड़ की आड़ में पुलिस की हिंसा को जायज़ ठहराया जा सकता है? जबकि असल हक़ीक़त यह है कि देश भर में हुए अधिकतर प्रदर्शन शान्तिपूर्ण ढंग से हुए हैं। क्या जग्गी बाबा को लोगों की लाशें, उनके टूटे आशियाने दिखायी नहीं देते? सामने आ रहे तमाम वीडियो जो पुलिस के द्वारा की जा रही हिंसा को प्रदर्शित करते हैं वे जग्गी बाबा को दिखायी नहीं देते हैं। क्योंकि जनता पर हो रहे ज़ुल्म महसूस तभी किये जा सकते हैं जब जनपक्षधर नज़रिया हो, कम से कम दिल में इन्सानियत ज़िन्दा हो!

जग्गी बाबा के अनुसार लोगों को ख़ासकर मुस्लिम समूहों को कुछ निराश लोगों के द्वारा बहकाया जा रहा है, उन्हें नागरिकता छीन लिये जाने की अफ़वाह फैलाकर ग़लत सूचना देकर भड़काया जा रहा है। जग्गी बाबा का कहना है कि आज के आधुनिक युग में कोई भी छात्र अपने मोबाइल में ही नागरिकता संशोधन क़ानून को पढ़ सकता है लेकिन फिर वे बिना एक्ट पढ़े फैलाये गये झूठ पर भरोसा करके इस एक्ट का विरोध कर रहे हैं। हालाँकि ये महाशय ख़ुद एक्ट को बिना पढ़े ही क़रीब 1500 सेकेण्ड की लन्तरानी हाँक गये! किन्तु असल में सीएए का विरोध करने वाले सभी धर्मों के लोग हैं तथा बड़ी संख्या में आन्दोलनकारी अपने तर्क-विवेक के साथ सरकार और इसके लग्गू-भग्गुओं के षड्यंत्रों को बेनक़ाब कर रहे हैं।

एनआरसी के सम्बन्ध में भी जग्गी बाबा बिन हाथ-पैर की छोड़ रहे हैं। ये लोगों के रजिस्ट्रेशन की तुलना कुत्तों के रजिस्ट्रेशन से कर रहे हैं। हालाँकि अभी तक केन्द्र सरकार ने एनआरसी पर कोई भी गाइडलाइन जारी नहीं की है किन्तु असम का उदाहरण हमारे सामने है जहाँ सैकड़ों लोग कई सालों से यातना शिविरों जैसे माहौल में जीवन जी रहे हैं। पूर्व राष्ट्रपति के रिश्तेदार और दशकों तक फ़ौज-पुलिस और सरकारी नौकरी करके भी लोग एनआरसी के नाम पर ज़्यादती का शिकार होने से नहीं बच पाये तो फिर आम इन्सान किस खेत की मूली हैं? असम का अनुभव क्या कम ख़तरनाक है जहाँ 1600 करोड़ रुपये ख़र्च करके, 52,000 कर्मचारी खपने पर भी लोगों को भीषण यंत्रणाओं से गुज़रना पड़ा और अब भी गुज़र रहे हैं? क्या नोटबन्दी के अनुभव से पेट नहीं भरा जब भ्रष्टाचार और काले धन के नाम पर लोगों को उल्लू बना दिया गया और उनपर सरकारी ज़ुल्म का बुलडोज़र चढ़ा दिया गया था? गृहमंत्री स्वयं एनआरसी में सुबूत के तौर पर राशन कार्ड, वोटर कार्ड और आधार कार्ड को नकार चुके हैं लेकिन जग्गी वासुदेव इस पर बड़े ही शातिराना ढंग से झूठ और अफ़वाह फैलाने में लगे हैं। हालाँकि लोगों को बहकाने और ग़लत सूचना फैलाने का आरोप ये दूसरों पर लगा रहे हैं।

असल बात यह है कि देश भर में हो रहे विरोध प्रदर्शनों से सत्ता पक्ष के दिल की धुकधुकी बढ़ी हुई है। शान्तिपूर्ण ढंग से उठ खड़े हुए जनता के एकजुट विरोध के सामने संघ परिवार ख़ुद को पंगु पा रहा है। प्रधानमंत्री हो या गृहमंत्री या इनके तमाम लग्गू-भग्गू दिन पर दिन बयान बदल रहे हैं किन्तु षड्यंत्र का इनका ऊँट इनकी मनमर्ज़ी की करवट नहीं बैठ पा रहा है। फ़ासीवादी मोदी सरकार शिक्षा-चिकित्सा-रोज़गार से ध्यान भटकाने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाये हुए है और विकराल रूप धारण कर रही मन्दी से जनता का ध्यान भटकाने के लिए नकली मुद्दे उठाने में लगी है। जग्गी वासुदेव हो या सत्ता पक्ष के चरण चुम्बन करने वाले दूसरे शातिर या इनके सरगना अपने अन्धभक्तों को उल्लू गाँठ सकते हैं। देश की जनता को इन झूठे-लुच्चे-लबारों के प्रवचनों की दरकार नहीं है। ●

गतिविधि

जन सत्याग्रह पदयात्रा के दूसरे चरण की शुरुआत!

जन सत्याग्रह पदयात्रा विभाजनकारी ग़रीब-विरोधी सीएए और एनपीआर-एनआरसी का सच बताते हुए 16 फ़रवरी से लेकर 4 मार्च तक चली। इस पदयात्रा में क़रीब 300 किलोमीटर की पैदल दूरी तय की गयी और 250 से अधिक जनसभाओं का आयोजन किया गया। एनपीआर के बहिष्कार के आह्वान के साथ यात्रा के पहले चरण का समापन विगत 4 मार्च को जन्तर-मन्तर पर हुई जनसभा के साथ हुआ जिसमें हिमांशु कुमार, गौहर रज़ा, मंगलेश डबराल, अभिनव सिन्हा समेत कई जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ताओं ने हिस्सेदारी की।

सभा में यह घोषणा की गयी कि अगले चरण में जन सत्याग्रह पदयात्रा घर-घर जायेगी और सभी नागरिकों को, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सिख हों या ईसाई, बतायेगी और सप्रमाण समझायेगी कि एनपीआर-एनआरसी केवल मुसलमानों के लिए नहीं बल्कि हर धर्म के ग़रीबों, मेहनतकशों और मध्यवर्ग के लिए ख़तरनाक है। असम में एनआरसी का उदाहरण साफ़ तौर पर इस बात को साबित करता है। इसके साथ ही गली-गली में एनपीआर-बहिष्कार समितियाँ बनायी जायेंगी और इसके साथ हमारे नागरिक अवज्ञा आन्दोलन को आगे बढ़ाया जायेगा। दूसरे चरण के तहत पदयात्रा जारी है।

यह यात्रा दिल्ली के नरेला के भगतसिंह चौक से शुरू होकर शाहबाद डेरी, रोहिणी, भलस्वा डेरी, बुराड़ी, वज़ीराबाद, करावलनगर, खजूरी, मुस्तफ़ाबाद, सीलमपुर, ओखला, जामिया, शाहीन बाग़, हौज़रानी, कसाबपुरा आदि इलाक़ों से गुज़रते हुए अपने अन्तिम मुक़ाम जन्तर-मन्तर तक पहुँची। पूरी यात्रा में क़रीब 300 किलोमीटर का सफ़र तय करते

हुए, 250 से अधिक जनसभाएँ करते हुए, लाखों पर्चे बाँटते हुए जनता तक अपने हक़-अधिकारों की बात पहुँचायी गयी। लोगों पर लादे जा रहे काले क़ानूनों की असलियत बताते हुए उनका जीवन से जुड़े असल मुद्दों पर खड़े होने के लिए आह्वान किया गया। दिल्ली के लाखों लोगों को पदयात्रा के दौरान बताया गया कि जन-एकजुटता क़ायम करके हमें सरकार की जनविरोधी-विभाजनकारी नीतियों का विरोध करना चाहिए और मुक्का ठोककर अपने रोज़गार-शिक्षा-चिकित्सा-आवास जैसे हक़ों के लिए आवाज़ को उठाना चाहिए। जनता की तरफ़ से इस दौरान बेहद उत्साहजनक प्रतिक्रिया मिली है। आम लोग झगड़े-दंगे नहीं चाहते बल्कि अमन-चैन और जीवन में ख़ुशहाली चाहते हैं। यात्रा के दौरान ही दिल्ली में सुनियोजित तरीक़े से फ़ासीवादी हमला हुआ, दंगे और साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। अभी तक भी राजधानी दिल्ली में जन-जीवन सामान्य नहीं हो पाया है। उत्तर-पूर्वी दिल्ली में अभी जनसत्याग्रह पदयात्रा के वॉलण्टियर राहत कार्य में जुटे हैं। उत्तर-पूर्वी दिल्ली के इलाक़ों में 24 फ़रवरी से फ़ासीवादी सत्ता की शह पर प्रायोजित दंगे और साम्प्रदायिक हिंसा में अभी तक की जानकारी के अनुसार 50 से अधिक लोगों की जान जा चुकी है। इसके अलावा सैकड़ों लोग इन दंगों में घायल हुए हैं। मरने वालों, घायल होने वालों और नुक़सान झेलने वालों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों के लोग हैं। ऐसे दंगों में कपिल मिश्रा, वारिस पठान जैसे नफ़रत से अपनी राजनीति चमकाने वाले नेताओं का कुछ बिगड़ा है? नहीं, नुक़सान होता है तो आम मेहनतकश ग़रीब लोगों का। दशकों से एक-दूसरे के साथ रहते आये लोग साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाकर एक-दूसरे के दुश्मन बना दिये गये हैं। पदयात्रा के दौरान यह सन्देश दिया गया कि हमें अपने महान शहीदों भगतसिंह, अशफ़ाक़ उल्ला ख़ान, रामप्रसाद बिस्मिल और चन्द्रशेखर आज़ाद के जन एकजुटता और भाईचारे के सन्देश को एक पल के लिए

भी भूलना नहीं चाहिए। भारत में दंगों की शुरुआत तभी हो गयी थी जब हमारा देश अंग्रेज़ों का ग़ुलाम था। अंग्रेज़ों ने लोगों को 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत बाँटा और अपना राज-काज चलाया। आज के तमाम सत्ताधारी भी यही कर रहे हैं। दंगों के दौरान पदयात्रा ने दिल्ली की गली-मोहल्लों में जाकर जनता की जुझारू एकजुटता क़ायम करते हुए अमन समितियों के गठन का आह्वान किया। कई इलाक़ों में अमन

समितियों का गठन भी किया गया। इनमें से कई इलाक़ों में दिल्ली की जनता ने ख़ुद ही दंगों के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता क़ायम कर दंगाइयों को खदेड़ा भी और दर्जनों लोगों की दंगों में जान भी बचायी। इस उदाहरण से सीख लेते हुए ही जन सत्याग्रह पदयात्रा ने अमन सत्याग्रह पदयात्रा का रूप भी अख़्तियार किया और एनपीआर-एनआरसी के भण्डाफोड के साथ-साथ अमन का पैग़ाम भी दिया।

दूसरे चरण के दौरान घर-घर जाकर एनपीआर बहिष्कार अभियान चल रहा है और इस दौरान कुछ इलाक़ों में एनपीआर-बहिष्कार समितियों का गठन भी किया गया है। मेहनतकश जनता हमारे बहिष्कार अभियान को हाथों-हाथ ले रही है और इस बात को समझ रही है कि मोदी का यह नया शिगूफ़ा समूची ग़रीब जनता के लिए न सिर्फ़ बेहद ख़तरनाक है बल्कि विभाजनकारी भी है और आर्थिक तौर पर भी नुक़सानदायक है। लेकिन संघ अपने ज़हरीले प्रचार को जनता के बीच घोलने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा है। इस प्रचार का एक हद तक जनता के बीच असर भी है। क्योंकि टीवी न्यूज़ चैनल, अख़बार, व्हाट्सएप्प आदि के माध्यम से रोज़ झूठ का प्रचार किया जाता है कि 'इससे हिन्दुओं का कोई नुक़सान नहीं होगा', 'यह तो बंगलादेशी मुसलमान घुसपैठियों को बाहर निकालने के लिए मोदीजी का मास्टरस्ट्रोक है' आदि-आदि। और इसके अलावा संघी झूठे प्रचारक भी लोगों के बीच मौजूद होते हैं। इन्होंने गोएबल्स से सीखा है कि एक झूठ को 100 बार बोलो तो वह सच लगने लगता है। झूठ को फैलाने में यह नाज़ियों से भी एक क़दम आगे हैं। इसलिए जब जनता के बीच कोई वैकल्पिक विचार और सच्चाई नहीं पहुँचेगी तब तक जनता इनके झूठ को ही सच समझते रहेगी। लेकिन पूरी बात करने और असलियत से सामना होने पर आम मेहनतकश जनता इस भ्रम से बाहर निकल जाती है और सच्चाई समझ जाती है। इसी अभियान के सिलसिले में कई बार संघी गुण्डों से झड़प भी हुई है लेकिन जहाँ भी उन्होंने हमारे अभियान को बाधित करने की कोशिश की वहाँ जनता ने ही उनको मुँहतोड़ जवाब दे दिया।

इसलिए सरकार, भाजपा और संघ के ज़हरीले प्रचार के ख़िलाफ़ जनता को सच्चाई के रूबरू कराने के लिए हमें उससे ज़्यादा मेहनत से सही बातों को लेकर जाने की ज़रूरत है। यह बात लोगों तक लेकर जाने की ज़रूरत है कि क्यों मोदी सरकार पूँजीपतियों की लूट को बढ़ाने और बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई, अभूतपूर्व आर्थिक मन्दी से ध्यान भटकाने के लिए एनआरसी, सीएए और एनपीआर जैसे ग़रीब-विरोधी क़ानून ला रही है।

पटना में 'देश जोड़ो नफ़रत छोड़ो अभियान' की शुरुआत

दिसम्बर माह से राज्य में एनपीआर, एनआरसी व सीएए के विरुद्ध लगातार विरोध प्रदर्शन आयोजित किये जा रहे थे जिसमें शहर की आम नागरिक व छात्र-युवा आबादी बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही थी, नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता भी इन कार्यक्रमों मे शामिल हो रहे थे। इस कड़ी में जनवरी माह में शाहीन बाग़ मे चल रहे अनिश्चितकालीन धरने की तर्ज़ पर पटना के सब्ज़ीबाग़ में भी अनिश्चितकालीन धरने की शुरुआत की गयी। इसके उपरान्त शहर के अलग-अलग हिस्से

जैसे हारून नगर, नौसा, लालबाग़, खलीलपूरा, सुल्तानगंज, दीघा, खाजपुरा, दानापुर आदि स्थानों पर भी धरने शुरू हो गये। नौजवान भारत सभा व दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं द्वारा सब्ज़ीबाग़ व हारून नगर में चल रहे धरनों में लगातार शिरकत की गयी। हालाँकि इस वक़्त यह बात भी सामने आ रही थी कि यह आवश्यक है कि एनपीआर, एनआरसी व सीएए जैसे काले क़ानूनों व व्यापक जनता पर पड़ने वाले उसके असर को आम जनता के उस हिस्से तक भी पहुँचाना होगा जो इससे अनभिज्ञ हैं और जो इन काले क़ानूनों को लेकर बहुत-सी भ्रान्तियों के शिकार हैं। साथ ही बाज़ारू अख़बारों, न्यूज़ चैनलों व व्हाट्सएप, फ़ेसबुक, ट्विटर आदि पर बीजेपी आईटी सेल द्वारा किये गये कुत्सा प्रचार के कारण पूरे आन्दोलन को 'डीलेजिटिमाइज़' करने का प्रयास किया जा रहा था व इसे एक सम्प्रदाय विशेष का आन्दोलन बताया जा रहा था, इसकी सच्चाई भी ग़ैर-मुस्लिम आबादी तक पहुँचाना अब ज़रूरी हो गया था। इन सब बातों के मद्देनज़र हारून नगर व सब्ज़ीबाग़ धरना स्थल के वॉलण्टियरों व दिशा छात्र संगठन तथा नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा मिलकर इन धरना स्थलों के निकट मौजूद निम्न मध्यवर्गीय ग़ैर-मुस्लिम इलाक़ों, मज़दूर इलाक़ों व दलित बस्तियों मे प्रचार अभियान की शुरुआत की गयी, नुक्कड़ सभाओं व व्यापक पर्चा वितरण के ज़रिये इन काले क़ानूनों की सच्चाई को लोगों तक पहुँचाया गया। अब चूंकि एनपीआर एनआरसी की पहली कड़ी है, इसलिए लोगों से एनपीआर बहिष्कार की भी अपील की गयी।

एनपीआर, एनआरसी व सीएए जैसे जनविरोधी क़ानून की हक़ीक़त व एनपीआर बहिष्कार की बात व्यापक जनता तक और बेहतर व संगठित तरीक़े से पहुँचे इसलिए पटना शहर के कुछ युवा कार्यकर्ता जो इन धरनों में भी सक्रिय थे व नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं की साझा टीम के द्वारा "देश जोड़ो, नफ़रत छोड़ो" नाम से एक अभियान की शुरुआत की गयी। इस अभियान को लेने का मुख्य मक़सद था कि सभी धर्म के लोगों के बीच NRC-NPR जैसे काले क़ानून का पर्दाफ़ाश किया जाये। दूसरा, NPR बहिष्कार के लिए लोगों को सहमत किया जाये। तीसरा, धरनास्थल के क़रीब जो भी ग़रीब बस्तियाँ हैं वहाँ साम्प्रदायिक सौहार्द बना रहे इसके लिए उन लोगों को क़ानून के बारे में जानकारी दी जाये व गोदी मीडिया के भ्रामक प्रचार के बरक्स उस आबादी तक सही जानकारी पहुँचायी जाये।

इन क़ानूनों से सबसे ज़्यादा प्रभावित वो आबादी होगी जैसे झुग्गी-झोपड़ियों मे रहने वाली दलित, मज़दूर आबादी व निम्नवर्गीय कामकाजी आबादी और इस अभियान में भी मुख्य ज़ोर ऐसे ही इलाक़ों पर था। अभियान की शुरुआत 19 फ़रवरी को की गयी, जो कि अभी तक जारी है। अभी तक यह अभियान पटना के यारपुर, बहादुरपुर, गोसाई टोला, बिंद टोली, कौशल नगर, चौहरमल नगर, पहाड़पुर आदि इलाक़ों में चलाया गया है। ये सभी ग़रीब बस्तियाँ या निम्न मध्यवर्गीय बस्तियाँ हैं। और अभी तक के अभियान के अनुभव के अनुसार इनमे से अधिकतर लोगों को क़ानून के बारे में कोई जानकारी नहीं थी! कई लोगों ने NPR बहिष्कार करने के लिए पूर्ण सहमति जतायी। यह बात सच है कि इस क़ानून की सबसे बड़ी मार ग़रीब लोगों पर पड़ेगी! और इसलिए आज इस ग़रीब-विरोधी काले क़ानून की सच्चाई को इन ग़रीब-मज़दूर बस्तियों में उजागर करना ज़्यादा ज़रूरी है।

इस अभियान के अभी तक के अनुभव के अनुसार लोगों ने सही जानकारी मिलते ही एनपीआर बहिष्कार की बात का समर्थन किया है, इसलिए इसके मद्देनज़र अभियान के दूसरे चरण में उन बस्तियों में जहाँ अभियान चलाया गया है, दोबारा जाकर वहाँ एनपीआर बहिष्कार समितियाँ गठित की जायेंगी। और चूंकि बिहार मे मई माह में एनपीआर प्रक्रिया शुरू होगी इसलिए यह अभियान अभी जारी रहेगा और पटना के इतर बिहार के अन्य शहरों व ज़िलों में भी "देश जोड़ो, नफ़रत छोड़ो" अभियान को फैलाया जायेगा।

उत्तर प्रदेश में सीएए-एनआरसी-एनपीआर विरोधी आन्दोलन में नौभास ने की भागीदारी

उत्तर प्रदेश में कई शहरों में सीएए-एनआरसी-एनपीआर का ज़बरदस्त विरोध हुआ। प्रदेश की राजधानी लखनऊ में बीते साल 19 दिसम्बर को सीएए के ख़िलाफ़ प्रदर्शन में क़रीब दस हज़ार लोगों ने शिरकत की। परन्तु उस प्रदर्शन के दौरान चन्द अराजक तत्वों द्वारा की गयी हिंसात्मक कार्रवाई की आड़ लेकर योगी सरकार ने प्रदेश में पुलिसिया दमन चक्र चलाकर यह सोचा था कि अब प्रदेश में किसी भी तरह के आन्दोलन नहीं हो सकेंगे। परन्तु इस साल 17 जनवरी को शाहीन बाग़ की बहादुर महिलाओं से प्रेरणा लेकर लखनऊ की महिलाओं ने ऐतिहासिक घण्टाघर पर अपना धरना प्रदर्शन शुरू करके योगी सरकार की उम्मीदों पर पानी फेर दिया। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए उत्तर प्रदेश पुलिस ने साम-दाम-दण्ड-भेद सब अपनाये लेकिन यह रिपोर्ट लिखे जाने तक उनका धरना बदस्तूर जारी है। पुलिस ने पहले महिलाओं के कम्बल चुराने की कोशिश की जिसका पर्दाफ़ाश महिलाओं ने ही किया जिसके बाद उत्तर प्रदेश पुलिस 'कम्बल-चोर' के नाम से कुख्यात हो गयी। पिछले दो महीने में पुलिस ने कई बार धरना

ख़त्म करने के लिए महिलाओं को डराया-धमकाया, कईयों के ऊपर फ़र्ज़ी मुक़दमें भी दायर किये और कई बार लाठियाँ भी भाँजी। लेकिन घण्टाघर पर महिलाएँ डटी रहीं। घण्टाघर में चल रहे इस धरना-पदर्शन की शुरुआत से ही नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग के कार्यकर्ताओं ने बढ़चढ़कर भागीदारी की और नारों व गीतों के माध्यम से प्रदर्शनरत महिलाओं की हौसलाअफ़ज़ाई की। घण्टाघर के अलावा लखनऊ के गोमतीनगर स्थित उजरियाँव में भी महिलाओं का धरना प्रदर्शन चल रहा है।

नौजवान भारत सभा ने लखनऊ के कई मोहल्लों में घर-घर अभियान चलाते हुए सीएए-एनआरसी-एनपीआर की असलियत और उनके पीछे मोदी सरकार की मंशा का पर्दाफ़ाश किया। कुछ मोहल्लों में नौभास की पहल पर लोगों ने एनपीआर का बहिष्कार करने के लिए कमेटियाँ बनाने की प्रक्रिया भी शुरू कर दी है। इन मोहल्लों में देशव्यापी सिविल नाफ़रमानी आन्दोलन की राह चलते हुए लोगों ने तय किया है कि वे 1 अप्रैल से शुरू होने वाली इस प्रक्रिया का पूर्ण बहिष्कार करेंगे और वे एनपीआर से सम्बन्धित किसी सवाल का जवाब नहीं देंगे और न ही कोई फ़ॉर्म भरेंगे।

लखनऊ की ही तरह इलाहाबाद में भी रोशन बाग़ में स्थित मंसूर अली पार्क में महिलाओं ने शाहीन बाग़ की तर्ज़ पर सीएए-एनआरसी-एनपीआर के ख़िलाफ़ मोर्चा खोला। यह प्रदर्शन भी शासन-प्रशासन की तमाम साज़िशों और चालों के बावजूद बदस्तूर जारी है। इस प्रदर्शन में भी नौभास के कार्यकर्ताओं ने बढ़चढ़कर भागीदारी की। प्रदर्शन के दौरान नौभास के कार्यकर्ताओं ने गीत, नारे और भाषण के साथ ही साथ नाटक के ज़रिये लोगों को सीएए-एनआरसी-एनपीआर के ख़तरों के बारे में लोगों को जागरूक किया और प्रदर्शन में डटे रहने के लिए महिलाओं की हौसलाअफ़ज़ाई की। इसके अतिरिक्त गोरखपुर में भी सीएए-एनआरसी-एनपीआर के विरोध में हुए कई प्रदर्शनों में नौभास ने भागीदारी की।

पटना विश्वविद्यालय छात्र संघ चुनाव में दिशा छात्र संगठन की भागीदारी

पटना विश्वविद्यालय के इस बार के छात्र संघ चुनाव में दिशा छात्र संगठन ने भागीदारी की। दिशा छात्र संगठन, जोकि पटना विश्वविद्यालय के कॉलेजों में लगभग 6-7 सालों से सक्रिय है, पिछले 3 बार से हो रहे पटना विश्वविद्यालय (वि.वि.) छात्र संघ चुनाव में भागीदारी करता आया है। नवम्बर माह में हुए चुनाव में दिशा छात्र संगठन की तरफ़ से सिर्फ़ अध्यक्ष पद के लिए नामांकन भरा गया।

पूरी चुनाव प्रचार की प्रक्रिया के दौरान चुनावबाज़ पार्टियों के छात्र संगठनों द्वारा लिंगदोह कमेटी के तमाम नियमों की खुलेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती रहीं और पूरा वि.वि. प्रशासन हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। छात्र संघ चुनाव में वोट जुगाड़ की राजनीति में जाति-आधारित ध्रुवीकरण व धर्म-आधारित ध्रुवीकरण भी हावी रहा। इस वि.वि. के तहत 11 कॉलेज आते हैं। पूरे कैंपस में और ख़ास तौर पर होस्टल में जाति-आधारित समीकरण बनाये जाते हैं, और धनबल-बाहुबल की राजनीति हावी रहती है। इसके साथ ही उस महिला कॉलेज जिसमें सबसे ज़्यादा छात्राएँ पढ़ती हैं, में साल भर किसी भी संगठन की एण्ट्री नहीं रहती और बिना कोई राजनीतिक प्रचार व काम के सिर्फ़ चुनावों के वक़्त प्रचार का स्पेस दिया जाता है। वहाँ की अधिकतर छात्राओं को उम्मीदवारों के एजेण्डे के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं

होता और लड़कियों के कॉलेजों में सही राजनीति को उन तक पहुँचने भी नहीं दिया जाता है। नतीजतन, महिला कॉलेजों मे विराजनीतिकरण चरम पर है वहीं दूसरी तरफ़ उनके वोट ख़रीद करके हासिल किये जाते हैं। दूसरी ओर लड़कों के हॉस्टलो में भी डर, पैसे और जाति के आधार पर वोट का बँटवारा होता है।

इस तमाम तरह की राजनीति को चुनौती देते हुए दिशा छात्र संगठन ने अध्यक्ष पद पर अपनी उम्मीदवार वारुणी पूर्वा को खड़ा किया। 2018 के छात्र संघ चुनाव में अध्यक्ष पद के लिए दिशा छात्र संगठन को 138 वोट मिले थे। इस बार इस पद के लिए हमें 627 वोट आये हैं। सबसे ज़्यादा समर्थन दिशा छात्र संगठन को पटना कॉलेज के छात्रों से मिला है। बेशक धारा के विपरीत तैरने में इन तमाम धनबल-बाहुबल और अवसरवादी व जातिवादी राजनीति के खिलाड़ियों के ख़िलाफ़ विश्वविद्यालय के छात्रों ने दिशा छात्र संगठन को विकल्प के तौर पर स्वीकार किया है। इस बार पटना कॉलेज में एक हद तक हम जाति व धनबल-बहुबल की राजनीति को चुनौती देने में कामयाब हुए हैं। इसके अलावा पूरे चुनाव प्रचार के दौरान हमारी राजनीति व हमारे विचार एक बड़ी आबादी तक पहुँचे हैं और छात्रों की एक बड़ी आबादी ने हमारी राजनीति का समर्थन किया। निश्चित तौर पर, छात्रसंघ के संघर्ष को जीतना अपने आप में सभी समस्याओं के समाधान का रास्ता नहीं है और सभी को निशुल्क एवं समान शिक्षा और सभी को रोज़गार के लिए संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर पूरा नहीं हो सकता है। लेकिन यह भी सच है कि पूँजीवादी-विरोधी संघर्ष का मोर्चा कारख़ाने से लेकर कैम्पस तक हर जगह खुला होता है और कैम्पस के भीतर जनवाद के लिए संघर्ष इसका एक हिस्सा होता है। कैम्पस के भीतर जनवाद का एक अहम हिस्सा छात्रसंघ में एक क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करना है। दिशा छात्र संगठन इस कार्यभार को पूरा करने के लिए प्रतिबद्ध है।

रपट

सीएए-एनआरसी पर घर में मीटिंग कर रहे नौभास कार्यकर्ताओं को अँधेरगर्दी करते हुए जेल भेजा!

सीएए-एनआरसी के विरोध में देशभर में हो रहे विरोध से बौखलायी भाजपा की सरकारें आन्दोलन का दमन करने और विरोध में उठने वाली हर आवाज़ का गला घोंटने पर इस क़दर आमादा हैं कि क़ानून-संविधान-मानवाधिकार सबको बेशर्मी के साथ जूते की नोक पर रखकर मनमाने फ़ैसले किये जा रहे हैं। शाहीन बाग़ में गोली चलाने वाले कपिल गुर्जर को ज़मानत मिल जा रही है मगर कर्नाटक के एक स्कूल में सीएए-एनआरसी पर महज़ नाटक खेलने के कारण देशद्रोह के आरोप में हफ़्तों से बन्द 21 लोगों को हाईकोर्ट से मिली ज़मानत भी सुप्रीम कोर्ट ख़ारिज कर दे रहा है। लखनऊ में जिन सामाजिक कार्यकर्ताओं पर पुलिस ने फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाये थे, अब योगी सरकार ने न्याय, मानवाधिकार और सभ्यता के सामान्य उसूलों को भी तार-तार करते हुए उनके नाम-पते सहित होर्डिंग शहर में लगवा दिये और अदालत की फटकार के बाद भी मुँहजोरी पर आमादा है। उत्तराखण्ड की त्रिवेन्द्र रावत सरकार भी इसी नक़्शे-क़दम पर चल रही है।

सीएए-एनआरसी के विरोध में देशभर में हो रहे विरोध से बौखलाये फ़ासिस्ट पुलिस-प्रशासन-अदालत सबको जूते की नोक पर रखकर आन्दोलन का दमन करने पर उतर आये हैं। चाहे गाजीपुर में सत्याग्रह पदयात्रियों के जत्थे को गिरफ़्तार करके जेल भेजना हो, डॉ. कफ़ील ख़ान को ज़मानत मिलने के बाद भी रिहा न करके जेल में ही उन पर रासुका लगा देना हो, लखनऊ में जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ थाने में मारपीट और दुर्व्यवहार करना हो, दिल्ली में महिला वकीलों और शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी और मारपीट हो, ऐसे कारनामों की फ़ेहरिस्त लम्बी होती जा रही है जिन पर किसी भी सभ्य और "लोकतांत्रिक" देश में सरकार के लिए जवाब देना मुश्किल हो जाता।

इसी कड़ी में बीती 2 मार्च को देहरादून में एक नागरिक के घर पर सीएए-एनआरसी के विरुद्ध मीटिंग कर रहे नौजवान भारत सभा के दो कार्यकर्ताओं को पुलिस ने बिना किसी वारण्ट या आरोप के अवैध तरीक़े से उठा लिया था। साथ में दो स्थानीय नागरिकों को भी पुलिस पकड़कर ले गयी थी।

रात भर पूछताछ के बहाने थाने में बैठाये रहने के बाद पुलिस ने अगले दिन सुबह स्थानीय नागरिकों को तो छोड़ दिया मगर नौभास कार्यकर्ताओं अपूर्व और अंगद पर धारा 151 के तहत "शान्तिभंग की आशंका" का केस दर्ज कर लिया। कहाँ तो मजिस्ट्रेट को पुलिस से यह जवाब तलब करना चाहिए था कि अगर कुछ लोग बन्द कमरे में बैठकर बातचीत कर रहे हैं तो इससे शान्तिभंग की आशंका कैसे है, मगर मजिस्ट्रेट उल्टे इन कार्यकर्ताओं से ही जवाब तलब कर रही थीं कि जब देश का माहौल ख़राब है तो वह रात में मीटिंग क्यों कर रहे थे! इससे पहले रात में कुछ पुलिस वालों को थाने में यह कहते हुए साफ़ सुना गया था कि धारा-वारा क्या होती है, इन लोगों को कुछ दिन जेल में रखकर मज़ा चखाना है। स्पष्ट था कि उन्हें ऊपर से निर्देश थे।

दरअसल, देहरादून के शास्त्रीनगर खाला इलाक़े में दो मार्च की शाम को एक स्थानीय नागरिक के घर पर नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ता सीएए-एनआरसी के बारे में लोगों को बताने और एनपीआर का बहिष्कार करने के बारे में मीटिंग कर रहे थे। ज्ञातव्य है कि नौभास की ओर से कई राज्यों में ऐसा अभियान चलाया जा रहा है और जगह-जगह इस मुद्दे पर मोहल्ला कमेटियाँ गठित की जा रही हैं। इसी क्रम में उस दिन की मीटिंग में क़रीब 25 पुरुष व महिलाएँ उपस्थित थे। मीटिंग के दौरान ही अचानक पुलिस वाले कमरे में घुस आये और अपूर्व मालवीय का नाम लेकर पूछा और उन्हें अपने साथ बाहर चलने के लिए कहा। नौभास के साथी अंगद मीटिंग का फ़ेसबुक लाइव कर रहे थे जिस पर यह सारी घटना कई मित्रों ने देखी। पुलिस अपूर्व के साथ ही अंगद को तथा दो अन्य नागरिकों को भी पकड़कर बसंत विहार थाने ले गयी। अंगद के फ़ोन से फ़ेसबुक लाइव को भी तत्काल डिलीट कर दिया गया।

इन दो युवा कार्यकर्ताओं को किसी न किसी बहाने जेल में रखने के लिए क़ानून को औंधे मुँह खड़ा कर दिया गया। पहले तो मजिस्ट्रेट ने उनकी ज़मानत के लिए ऐसी शर्तें लगा दीं जिन्हें पूरा करना लगभग असम्भव था, कम से कम आज के माहौल में! धारा 151 के मामलों में आम तौर पर निजी मुचलके पर ही ज़मानत हो जाती है, लेकिन इन दो नौजवानों के लिए सिटी मजिस्ट्रेट ने शर्त लगा दी कि दो राजपत्रित अधिकारी (प्रवर्ग ख के) ज़मानती हों और एक-एक लाख के दो बॉण्ड भी दिये जायें। अव्वलन तो किसी भी क़ानून या नज़ीर के तहत ऐसी शर्त नहीं लगायी जा सकती, दूसरे कोई राजपत्रित अधिकारी क्यों किसी की ज़मानत लेगा! इस वाहियात और निश्चय ही राजनीतिक दबाव में दिये आदेश के विरुद्ध नौजवान भारत सभा की ओर से पिछले शुक्रवार को नैनीताल हाईकोर्ट में याचिका दायर की गयी थी। वहाँ का अनुभव एक बार फिर यह बताने के लिए काफ़ी था कि अदालतें किस क़दर भगवा रंग में रंग चुकी हैं। हालाँकि अब इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है, मगर वहाँ पर एक जज ने अपने चैम्बर में वकीलों को फटकार लगाते हुए सीएए-एनआरसी का विरोध करने वालों के बारे में जिस तरह की भाषा में टिप्पणियाँ कीं उसे "शॉकिंग" ही कहा जा सकता है। उन्होंने कुछ बेवजह के तकनीकी नुक़्ते बताकर याचिका की फ़ाइल वापस कर दी और यह भी जता दिया कि उनकी अदालत से इस मामले में उम्मीद रखना व्यर्थ है।

इतना ही नहीं घरवालों पर दबाव बनाने के लिए प्रशासन ने उनके पते देकर पत्रकारों को घरों पर भेजा और देहरादून, गोरखपुर और सोनभद्र के अख़बारों में एक जैसी ख़बरें छपवायी गयीं जिनको पढ़कर ऐसा लगेगा मानो कोई ख़तरनाक अपराधी पकड़े गये हों।

असल में सरकार जनविरोधी और विभाजनकारी सीएए, एनआरसी और एनपीआर क़ानून के ख़िलाफ़ देश भर में चल रहे जनान्दोलनों से बौखलायी हुई है और किसी भी तरह के नागरिक जनवादी अधिकारों को कुचल देने पर आमादा है. कमरे के भीतर शान्तिपूर्ण बैठक कर रहे नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी सरकार की बौखलाहट को दिखाती है। लेकिन इन हमलों से आन्दोलनकारियों के हौसले और बुलन्द होंगे।

बहरहाल, देश भर में अलग-अलग जगहों, विशेषकर देहरादून की संघर्षरत जनता, सामाजिक कार्यकर्ताओं, राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, वकीलों के एकजुट विरोध की बदौलत 11 मार्च को नौजवान भारत सभा के दोनों साथियों की ज़मानत हो गयी, मगर यह लड़ाई यहीं थम नहीं जाती, इस राजनीतिक हमले का मुक़ाबला राजनीतिक तौर पर भी करना होगा। इस गिरफ़्तारी के ज़रिये भाजपा सरकार सीएए-एनआरसी के विरोध में आन्दोलनरत सभी जनसंगठनों और कार्यकर्ताओं को यह मैसेज देना चाहती है कि आज इनको जेल में डाला है, कल तुम्हारी भी बारी आ सकती है। उन्हें लगता है कि मुसलमानों को तो उन्होंने पहले ही काफ़ी आतंकित कर रखा है, अब इन दो नौजवानों के ज़रिये वे यह भी दिखाना चाहते हैं कि सीएए-एनआरसी के विरोध में आवाज़ उठाने वाले "हिन्दुओं" को भी नहीं बख़्शा जायेगा। इस आन्दोलन को केवल मुसलमानों का विरोध साबित करने और उन्हें और अधिक अलग-थलग करने की उनकी कुटिल चेष्टा का यह भी एक अंग है। देहरादून और उत्तराखण्ड के जनसंगठन, राजनीतिक पार्टियाँ और ऐक्टिविस्ट इस घटिया साज़िश को समझ भी रहे हैं और इस पर क्षोभ व्यक्त करते हुए इस मसले पर एकजुट विरोध की तैयारी भी कर रहे हैं। भाजपा सरकार की हरचन्द कोशिशों के बावजूद यह आन्दोलन और व्यापक शक्ल अख़्तियार करेगा।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउसके पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8-00 तक) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी • विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी, बीएचयू वाराणसी • कुँवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड़, मन्दिर लेन, उन्नाव

दिल्ली : • अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस.

बिहार : • विक्रान्त कुमार, द्वारा- हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजा-शंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट--रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर

हरियाणा : • डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम व पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, ज़िला-जीन्द • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दया-नन्द विश्वविद्यायल, रोहतक

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्ठी, अजनी रोड, नागपुर • हर्ष ठाकोर, हरबंश, चतुर्थ तल, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8 जी रोड, जूहू विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

हिमाचल प्रदेश : • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पँवार लॉज, एयरपोर्ट रोड, टूटु, शिमला (11) • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी

उत्तराखण्ड : • संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो-सोमेश्वर, ज़िला-अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजी-वी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल' द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़ • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल,देहरादून

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

छत्तीसगढ़ : • श्री देवांशु पाल, सं – 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं बस आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर लेख प्राप्ति हेतु सन्देश भेजना होगा, धन्यवाद।

राहुल फ़ाउण्डेशन की तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें

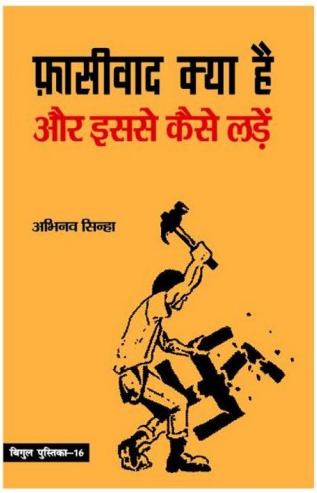

प्रस्तुत पुस्तिका फ़ासीवाद के उभार के इतिहास के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

पृष्ठ : 200, मूल्य : 120 रुपये

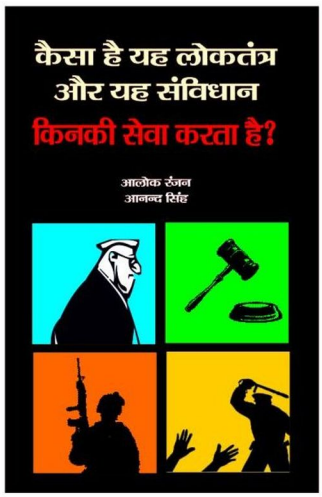

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

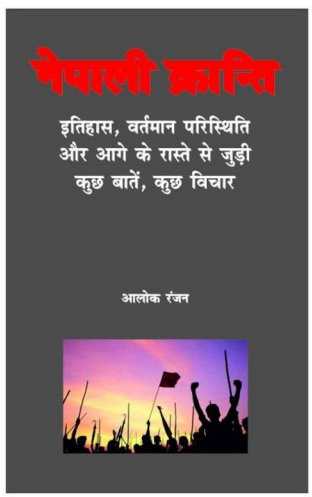

भारत और नेपाल में जारी वर्ग-संघर्ष एक दूसरे को गहराई से प्रभावित करते हैं, इसलिए नेपाली क्रान्ति के सफ़रनामे से गहराई से परिचित होना भारत के जागरूक मुक्तिकामी जनों के लिए ज़रूरी है। यह पुस्तक नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का विस्तृत परिचय देने के साथ ही वहाँ आन्दोलन की गम्भीर वैचारिक समस्याओं और भटकावों पर चर्चा करती है, तथा नेपाल में क्रान्ति के रास्ते के प्रश्न पर संसदीय मार्ग बनाम क्रान्तिकारी मार्ग की विचारधारात्मक बहस से परिचित कराती है।

पृष्ठ : 140, मूल्य : 55 रुपये
अनुपूरक: 16 पृष्ठ, 8 रुपये

पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क करें :

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हाट्सऐप)
ईमेल : janchetna.books@gmail.com **वेबसाइट :** www.janchetnabooks.org

Muktikami Chhatron-Yuvaon ka Aahwan • January-April 2020 • RNI NO- DELHIN/2008/26966

खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है– 'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : disha.du@gmail.com